सुभाष चंद्र बोस

नेताजी सुभाष चन्द्र बोस

मन्मथनाथ गुप्त

प्रकाशन विभाग
सूचना और प्रसारण मंत्रालय
भारत सरकार

प्रथम संस्करण : श्रावण 1890, अगस्त 1968
द्वितीय संस्करण : पौष 1895, जनवरी 1974
तृतीय संस्करण : आश्विन 1900, अक्तूबर 1978

मूल्य : **3.00**

निदेशक, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार,
पटियाला हाउस, नई दिल्ली-110001 द्वारा प्रकाशित

विक्रय केन्द्र ● प्रकाशन विभाग

सुपर बाजार, (दूसरी मंजिल), कनाट सर्कस, नई दिल्ली-110001
कामर्स हाउस, दूसरी मंजिल, करीम भाई रोड, बालार्ड पायर, बम्बई-400038
8, एस्प्लेनेड ईस्ट, कलकत्ता-700001
शास्त्री भवन, 35, हैड्डोज रोड, मद्रास-600001

आरसी प्रेस, देशबन्धु गुप्ता रोड, नई दिल्ली-110055 द्वारा मुद्रित।

सूची

1.	प्रारम्भिक जीवन	...	1
2.	इंग्लैंड में अध्ययन	...	7
3.	स्वाधीनता आंदोलन में प्रवेश	...	11
4.	जेल यात्रा	...	16
5.	त्रिपुरी कांग्रेस के अध्यक्ष	....	25
6.	अंग्रेज़ों की मुट्ठी से निकल भागे	...	28
7.	आज़ाद हिन्द सरकार की स्थापना		38
8.	आज़ाद हिन्द फौज का मुकदमा	....	43
9.	देश में अपूर्व जोश	...	45

भारत में अमर चरित्र ग्रंथमाला

प्रकाशन विभाग से 'भारत के गौरव' शीर्षक ग्रंथमाला में देश के महान व्यक्तियों की छोटी-छोटी जीवनियां निकलती रहती हैं, जिनको हमारे पाठकों ने, विशेषकर बालक और बालिकाओं ने बहुत पसन्द किया है। अब हम इस ग्रंथमाला में देश के ऐसे महान पुरुषों और स्त्रियों की कुछ बड़ी जीवनियां दे रहे हैं, जो अपने महान कार्यों से अमर हो चुके हैं। आधुनिक भारत के निर्माताओं में और देश की आजादी की लड़ाई के महान सेनानियों में नेताजी सुभाषचन्द्र बोस का नाम महात्मा गांधी और नेहरू के साथ लिया जाता है। उनका जीवन शुरू से ही बड़ा ओजस्वी, तूफानी और वीरतापूर्ण रहा है। 1857 की स्वतंत्रता की लड़ाई के बाद पहली बार सेना सजाकर विदेशी सत्ता को उखाड़ फेंकने का प्रयत्न इसी वीर पुरुष ने किया था और उनका 'जयहिन्द' का नारा देश के कोटि-कोटि कण्ठों में गूंज उठा और स्वतन्त्र भारत का जयघोष बन गया। नेताजी द्वारा आज़ाद हिन्द सेना का संगठन हमारे स्वतंत्रता के इतिहास का एक चिरस्मरणीय अध्याय है। यद्यपि विदेशी सत्ता को उखाड़ फेंकने के प्रयत्न में नेताजी को तात्कालिक सफलता नहीं मिली, परन्तु स्वतंत्रता के जिस बीज को उन्होंने अपने खून से सींचा था, वह आज शान से फलफूल रहा है।

इस छोटी-सी जीवनी में उनके जीवन की मुख्य-मुख्य घटनाओं का और उनके पुण्य चरित्र का संक्षिप्त वर्णन करने का प्रयत्न हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक श्री मन्मथनाथ गुप्त ने किया है। हमें आशा है कि यह और इस माला की अन्य पुस्तकें अपने उद्देश्य में सफल होंगी, और बालकों को अपने देश के उन अमर व्यक्तियों के पुण्य चरित्रों का परिचय दे सकेंगी तथा उनके हृदय में भी देशप्रेम और देशसेवा की भावना को जगा सकेंगी।

प्रारम्भिक जीवन

उड़ीसा में कटक नाम से प्रसिद्ध एक नगर है। यहीं सुभाषचन्द्र बोस के पिता जानकीनाथ बोस वकालत करते थे। वह एक नामी वकील थे और एक अच्छे वकील तथा दाता के रूप में प्रसिद्ध थे। उनकी पत्नी का नाम प्रभावती था। जानकीनाथ स्वयं एक ऐसे अद्भुत व्यक्ति थे कि यदि उनके पुत्र इतने प्रसिद्ध न होते, तो शायद लोग उन्हीं की जीवनी लिखते। वह 1860 में 24 परगना के कुन्दालिया नामक गांव में पैदा हुए थे। वह गांव कलकत्ता के दक्षिण में 16 किलोमीटर दूरी पर है।

वह वकील बनकर उड़ीसा में वकालत करने लगे। उन दिनों उड़ीसा, बंगाल प्रान्त के अन्दर ही था। थोड़े ही दिनों में वह अपने पेशे में शीर्षस्थान पर पहुंच गए। वह 1901 में कटक नगरपालिका के अध्यक्ष चुने गये और 1905 में सरकारी वकील बनाए गए। 1912 में वह बंगाल विधान परिषद के सदस्य बनाए गए और उसी साल उन्हें 'राय बहादुर' की उपाधि भी दी गई। उन दिनों राय बहादुर बहुत बड़ी उपाधि समझी जाती थी। पर 'राय बहादुरी' के कारण वह सरकार के गुलाम नहीं बन गए। 1917 में वह सरकारी वकील के पद से इस कारण अलग हो गए कि जिला मजिस्ट्रेट के साथ उनकी नहीं बनी। इसके बाद वह स्वतन्त्र रूप से वकालत करने लगे, जिसमें वह पहले से भी अधिक चमके। जब कांग्रेस आंदोलन चला, तो उन्होंने अपनी राय बहादुर की उपाधि त्याग दी।

जानकीनाथ बोस के इस सार्वजनिक जीवन के अलावा उनके जीवन की सबसे बड़ी बात यह थी कि वह स्वयं गरीबी में पले थे, इसलिए उन्होंने कभी गरीबी का दुःख नहीं भुलाया। बीसियों छात्रों को वह कुछ न कुछ सहायता देते थे और कई तो उनके खर्च पर ही पढ़ते थे। वह अपने गांव को भी नहीं भूले। उन्होंने अपने गांव की सड़कें ठीक कराईं, वहां स्कूल खुलवाया, तालाब ठीक कराए और वह हर साल दुर्गा पूजा के समय अपने गांव में अवश्य जाते थे।

पिता की विरासत

ऐसे पिता के पुत्र सुभाष का जन्म 23 जनवरी, 1897 के दिन बारह बजे हुआ। इस प्रकार से यह कहा जा सकता है कि सुभाष को बहुत से गुण अपने पिता से मिले।

जानकीनाथ धार्मिक विचारों के थे, पर उनके लिए धर्म केवल व्यर्थ का अनुष्ठान नहीं था, बल्कि अपने चारों ओर के मनुष्यों को सुख पहुंचाने के लिए था। सुभाष को भी धर्म से प्रेम रहा, पर उन्होंने कभी धर्म को इस रूप में नहीं लिया कि केवल पूजा-पाठ में ही समय देना है। उनकी दृष्टि में धर्म का अर्थ मनुष्य की सेवा था।

सुभाष स्वभाव से लजीले थे। उनके कई बड़े भाई थे और छोटे-छोटे भी कई भाई थे। उनके माता-पिता उन पर कोई विशेष ध्यान नहीं देते थे। इसी कारण वह अपने घर पर रहने वाली शारदा नाम की एक रिश्तेदार के प्रभाव में बहुत आए। शारदा उन्हें राजा कह के पुकारती और चाहती थी कि सब लोग उन्हें राजा कहकर पुकारें, क्योंकि भाइयों में उनका व्यवहार राजाओं की तरह था।

इनके बड़े भाई शरतचन्द्र बोस थे, जो बाद में चल कर एक बड़े वकील और जननेता हुए। शरत पढ़ने-लिखने में बचपन से ही बहुत तेज थे। उन्होंने 12 साल की उम्र में ही एन्ट्रेंस परीक्षा पास की थी। इसके अलावा वह वाद-विवाद में भी बहुत अच्छे थे। सुभाष ने शरत का अनुकरण किया।

शिक्षा के दौरान लोक सेवा

उन दिनों सब बड़े लोग यह चाहते थे कि उनके लड़के अंग्रेज बनें, अंग्रेजों की तरह अंग्रेजी बोलें और अंग्रेजों के तौर-तरीके सीखें। इसके अनुसार सुभाष को प्रोटेस्टेंट यूरोपियन स्कूल में भर्ती कर दिया गया। उनके सभी भाई इस स्कूल में पढ़ चुके थे। वहां सबसे अच्छी बात यह थी कि शिक्षक अच्छे थे और उनमें से कुछ शिक्षकों के साथ सुभाष का सम्बन्ध भी अच्छा रहा। पर अपने चारों तरफ के गोरे छात्रों के रंग-ढंग सुभाष को पसन्द नहीं थे। वह उस आबोहवा को पसन्द नहीं करते थे, इसलिए वह केवल 8 साल की उम्र तक स्कूल में रहे। इसके बाद वह रावेनशा कालेज के साथ लगे हुए स्कूल में भर्ती हुए।

उन दिनों स्वदेशी आंदोलन की लहरें बंगाल से उड़ीसा में पहुंच रही थीं। उस स्कूल के प्रधान शिक्षक बेनीमाधव दास का सुभाष पर बहुत प्रभाव पड़ा, क्योंकि वह आदर्श-चरित्र व्यक्ति थे और छात्रों के लिए बड़ा परिश्रम करते थे। उन्हीं दिनों सुभाष पर रामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानन्द का असर पड़ा। जानकीनाथ के घर में वातावरण तो धार्मिक था ही और स्वयं जानकीनाथ भी रामकृष्ण परमहंस के भक्त थे। सुभाष अपने प्रधान शिक्षक तथा विवेकानन्द के प्रभाव के कारण गरीबों के प्रति बहुत आकृष्ट हुए। वह बड़े घर के माने जाते थे। उनके घर से बराबर दान में बहुत पैसा दिया जाता था। पर इससे सुभाष को सन्तोष नहीं हुआ और वह

विद्यार्थी जीवन में मरीजों की सेवा करते हुए

अपने माता पिता तथा भाइयों से छिप कर गरीबों के घरों में जाते और वहां जो कुछ भी सहायता हो सकती करते ।

उन दिनों डाक्टरी सहायता इतनी आसानी से नहीं मिलती थी और ग्रामवासियों को तो यह बिल्कुल ही नहीं मिलती थी । इसलिए जब-जब महामारी, हैजा, चेचक आदि फैलती थी, तो सुभाष छिप कर ऐसे समय में गांव में जाते थे और लोगों की सेवा करते थे । इस उद्देश्य के लिए उन्होंने अपने साथियों की टोली बना ली थी और ये लोग ढूंढ़-ढूंढ़ कर लोगों की सेवा किया करते थे ।

पर यह अजीब बात है कि इस प्रकार बाहर के कामों में काफी समय देने पर भी वह अपनी पढ़ाई की उपेक्षा नहीं करते थे । वह ठीक समय पर स्कूल पहुंचते थे और शिक्षक जो कुछ पढ़ाते थे, उसे ध्यान से सुनते और पढ़ते थे । वह घर में काफी समय तक पढ़ते थे । सुभाष ने एन्ट्रेंस परीक्षा दी, तो वह द्वितीय आए । बहुत से लोगों को इससे बड़ा आश्चर्य हुआ । पर इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं थी, क्योंकि बचपन से ही उनका तरीका यह रहा कि जिस कार्य को वह करते थे, उसे वह ध्यान से करते थे । जब वह सेवा के लिए जाते थे, तो जीजान से सेवा करते थ और जब वह पढ़ाई करते थे तो पढ़ाई में दिल लगाते थे । वह एक काम को दूसरे में बाधक नहीं होने देते थे ।

सच्चे गुरु की तलाश

सुभाष आए तो द्वितीय थे, पर वह अपने से सन्तुष्ट नहीं थे । उन्हें ऐसा लगता था कि मैं जो कुछ कर रहा हूं, वह मेरा काम नहीं है । मेरा तो कुछ और ही काम है । इसलिए परीक्षा पास करने के बाद वह घर से निकल कर चले गये । उन्होंने बाद में लिखा कि मेरे जीवन में हिमालय की बहुत बड़ी पुकार रही है । मेरी बराबर यह इच्छा रही कि मैं संसार छोड़ कर साधु हो जाऊं । इसके साथ ही उन्हें यह भी लगता था कि साधु हो जाने में कुछ धरा नहीं है ।

यह अनुभव उन्हें साधु जीवन मिलने पर हुआ । 1914 के प्रारम्भ में वह घर से

निकले, और उत्तर भारत के बहुत से तीर्थ स्थानों में गए। वह ऐसे गुरु की खोज कर रहे थे, जो उन्हें रास्ता दिखाए। कई महीने इधर-उधर भटकने के बाद वह उसी साल जून में लौट आए। वह कई तीर्थों में कई साधु नामधारी लोगों से मिले, पर उनकी तृप्ति नहीं हुई। बात यह है कि छोटी उम्र में भी उन्होंने काफी धार्मिक साहित्य पढ़ा था और जितना पढ़ा था, उससे वह यह समझने लायक हो गये थे कि इस संसार के गुरु उन्हें कुछ नहीं दे सकते। इस कारण वह तीर्थों में भटक-भटक कर लौट आए।

बीमारी और पढ़ाई

लौटकर उन्होंने अपने पिता से कहा कि ईश्वर को प्राप्त करने के लिए भटकना जरूरी नहीं। जानकीनाथ स्वयं धार्मिक विचारों के थे और अपने बच्चों को अच्छी तरह समझते थे। फिर सुभाष पढ़ने-लिखने में लग गये। वह मन और शरीर से थक चुके थे और पता नहीं कहां-कहां का पानी पीया था। इसलिये वह घर लौटते ही टाइफायड से पीड़ित हो गये और कुछ दिनों तक उनकी हाल ऐसी रही कि मृत्यु और जीवन के बीच में मंडराते रहे।

उन दिनों आज की जैसी दवाएं नहीं निकली थीं, इसलिए वह काफी दिनों बीमार रहे। इसके बाद वह स्वास्थ्य सुधारने के लिए कुर्सियांग भेजे गए। घूमने से जो समय की हानि हुई थी, उसके कारण वह यह नहीं चाहते थे कि उनकी पढ़ाई पिछड़ जाए। इसलिए वह यथासमय इण्टरमीडियट की परीक्षा में बैठे। लोग यह समझते थे कि वह किसी तरह उत्तीर्ण भले ही हो जाएं, अच्छे नम्बर नहीं पा सकते, पर वह प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए और उनका स्थान काफी ऊंचा रहा। इसके बाद प्रेसीडेंसी कालेज कलकत्ता में दर्शनशास्त्र में आनर्स लेकर पढ़ने लगे। जब वह तीसरे वर्ष के छात्र थे, तो विश्वविद्यालय छात्र सेवा (यू. टी. सी.) में भर्ती हो गए और सैनिक प्रशिक्षण पाने लगे। पढ़ने-लिखने में तो वह अच्छे थे ही, साथ ही सैनिक प्रशिक्षण में भी वह काफी आगे रहे।

गोरे अध्यापक से अपमान का बदला

प्रेसीडेंसी कालेज के अच्छे छात्र होते हुए भी वहां का वातावरण उन्हें पूर्ण रूप से पसन्द नहीं था, क्योंकि गोरे अध्यापक कई बार भारतीय छात्रों के साथ दुर्व्यवहार करते थे। सुभाष पहले यह सब देखते रहे और उन्हें यह पसन्द नहीं आता था। उनके एक अध्यापक थे, मि. ओटन जो बहुत ही उद्धत थे। वह बात-बात में लोगों का अपमान करते थे। सुभाष से यह नहीं देखा गया और एक दिन उनके लिए ओटन का व्यवहार बहुत असहनीय हो गया। जब ओटन ने उनका अपमान किया, तो उन्होंने

उसका जवाब उसी रूप में दिया और उन्होंने तथा दूसरे छात्रों ने ओटन पर हमला कर दिया। 15 साल के बाद सुभाष ने इस घटना का जिक्र करते हुए कहा था कि पश्चिम के लोग केवल मारपीट और हिंसा की ही भाषा समझते हैं। भारत के लोग स्वभाव से अहिंसक होते हैं और अंग्रेजों ने ही भारतीयों को यह सिखाया कि हिंसा से ही काम बन सकता है।

पहले भारतीय, गोरों के हाथों मार खाते थे और चुप रह जाते थे। पर धीरे-धीरे भारतीयों ने भी ईंट का जवाब पत्थर से देना शुरू किया। ओटन की तरह कलकत्ता के कालेजों में और अन्यत्र बहुत से अंग्रेज प्रोफेसर ऐसे थे जो भारतीय छात्रों का अपमान करते थे। पर धीरे-धीरे भारतीय छात्रों ने भी इसका बदला लेना शुरू किया, तब गोरे अध्यापक सम्हल गए। सुभाष द्वारा अपने गोरे अध्यापक पर आक्रमण इसी प्रकार की एक घटना थी। मि. ओटन पर हमला करने के कारण सुभाष को कालेज से निकाल दिया गया। कई छात्र भी इस हमले में शामिल थे, पर पूछे जाने पर भी सुभाष ने किसी का नाम नहीं लिया और सब दोष अपने ऊपर ले लिया।

यह घटना इतनी प्रसिद्ध हुई कि उस पर एक जांच समिति बैठाई गई। छात्र सुभाष को बुला कर उनका बयान लिया गया। उनसे कहा गया कि आप यह वादा करें कि भविष्य में ऐसा कोई कार्य नहीं करेंगे। इसके अलावा आप अपने उन साथियों का नाम भी बतायें जो हमले में शामिल थे और जिन्होंने आपको भड़काया। पर सुभाष ने भविष्य के लिए कोई वादा करने से इन्कार किया। यही नहीं, उन्होंने यह कहा कि यदि कोई अध्यापक इस प्रकार व्यवहार करे, जिस प्रकार ओटन ने किया, तो उनके साथ वही व्यवहार होना चाहिए जैसा मि. ओटन के साथ हुआ।

कालेज से निकाला जाना

इस पर सुभाष को रस्टिकेट कर दिया गया, यानी उन्हें यह सजा दी गई कि वह न तो इस कालेज में पढ़ सकते हैं और न किसी दूसरे कालेज में पढ़ सकते हैं। यह बहुत बड़ी सजा थी। इस पर कलकत्ता के अखबारों ने बड़ा वावेला मचाया, पर सरकार भी टस से मस नहीं हुई। अन्त में सुभाष कटक गए। वहां उन्हें डेढ़ साल तक किसी कालेज में बिना पढ़े समय काटना पड़ा। इस समय वह कटक के छात्रों में सामाजिक सुधार और सांस्कृतिक कार्य करते रहे। 1917 में सर आशुतोष मुखर्जी ने उनका रस्टिकेशन आदेश रद्द किया, तब वह कलकत्ता के स्काटिश चर्च कालेज में भर्ती हुए। 1919 में वह प्रथम श्रेणी में स्नातक हो गये। बाद में वह उच्चतर शिक्षा के लिये विदेश गये।

सुभाष ने बाद में ओटन घटना का और विवरण दिया। उन्हें एक दिन उनके कालेज के अध्यक्ष ने बुलाया और कहा कि तुम इस कालेज में सबसे झगड़ालू छात्र हो और उन्हें 'कालेज-निकाला' का आदेश सुनाया। सुभाष ने लिखा था कि इस बात ने मेरे जीवन को नया मोड़ दिया, क्योंकि पहली बार मैंने यह अनुभव किया कि मैं जिस उद्देश्य को आगे बढ़ाना चाहता हूं, उसके लिए मुझे यह कष्ट उठाना पड़ा है और इस पर मुझे उस आनन्द का अनुभव हुआ, जो केवल अच्छे कार्य के लिये कष्ट उठाने पर मिलता है।

इंग्लैंड में अध्ययन

यहीं से सुभाष के जीवन का क्रम बदल गया था। वह उच्चत्तर शिक्षा के लिए विलायत चले गये। खैरियत यह थी कि सरकार की ओर से इसमें कोई बाधा नहीं दी गई। यह समझा जाता था कि प्रत्येक व्यक्ति का यह अधिकार है कि वह वहां जाकर पढ़े। पहले तो यही तय नहीं हो पाया कि सुभाष क्या पढ़ें। उनके पिता तथा परिवार वाले यही चाहते थे कि वह आई. सी. एस. बनें। पर वह आई. सी. एस. होना नहीं चाहते थे।

वह शिक्षक होना चाहते थे। स्वामी विवेकानन्द के विचारों का उन पर यह असर पड़ा कि इस देश को अच्छे शिक्षकों की आवश्यकता है। विवेकानन्द शिक्षक को मनुष्य का निर्माता मानते थे और वह कहते थे कि मेरा मिशन या ध्येय मनुष्य का निर्माण है। इसके लिए वह चरित्र निर्माण को सबसे ज्यादा महत्त्व देते थे। सुभाष भी इसी कारण अध्यापक बनना चाहते थे। पर उनके अभिभावक इसके लिए तैयार नहीं थे।

इतना खर्च, केवल शिक्षक बनने के लिए! इस पर परिवार के लोग हंसे। अन्त में यह तय हुआ कि वह आई. सी. एस. की परीक्षा में बैठे और यदि वह इसमें असफल हों, तो वह कैम्ब्रिज या लन्दन में अध्ययन के लिए जा सकते हैं। उनके कई भाई पहले से ही विलायत में पढ़ रहे थे। सुभाष इस समझौते पर राजी हो गए और वह 11 सितम्बर, 1919 को इंग्लैंड रवाना हो गए। उन्हें यह खटका था कि पिताजी ने अजीब शर्त लगा दी है कि सिविल सर्विस की परीक्षा में बैठना है, यदि उसमें उत्तीर्ण नहीं हो सके, तो शिक्षक बन सकते हो।

आई. सी. एस. की तैयारी

सुभाष का मन यह कहता था कि मैं किसी परीक्षा में बैठूं और उसमें उत्तीर्ण न होऊं यह मेरी प्रतिष्ठा के विरुद्ध है। इसलिए वह जब इंग्लैंड गए तो आई. सी. एस. के लिए पढ़ाई भी अच्छी तरह करने लगे। उनके बड़े भाई इंग्लैंड में रह कर अंग्रेज बनने की चेष्टा कर रहे थे। उनसे भी कहा गया कि तुम भी ऐसा ही करो।

उन्होंने अंग्रेजों के सारे तौर-तरीके तो सीख लिए पर मन में कई प्रकार के सन्देह

बने रहे। वह ऐसा अनुभव करते रहे कि मैं जो कुछ और जैसा होना चाहता हूं, वैसा नहीं हो पा रहा हूं और परिस्थितियों के वश में पड़ कर कुछ और ही होता जा रहा हूं। पर साथ ही वह यह समझते थे कि यदि मैं अपने पिता के पैसे खर्च कर रहा हूं, तो मुझे यह अधिकार नहीं है कि पढ़ाई न करूं।

इसके अलावा उनके सामने उनके भाइयों का उदाहरण था। वह लोग पढ़ाई-लिखाई में बहुत अच्छे थे। वह उनसे पीछे नहीं रहना चाहते थे। इंग्लैंड का वातावरण उन्हें बहुत पसन्द आया। इंग्लैंड के अंग्रेज भारत के अंग्रेजों की तरह नहीं थे। वे कर्तव्य को सबसे अधिक महत्व देते थे और परिश्रमी थे। अंग्रेजों में रहते हुए उन्होंने एक बात और देखी कि ये लोग समय के बड़े पाबन्द हैं और वे जो भी काम करते हैं, उसे बड़े ध्यान से करते हैं। अंग्रेजों की देशभक्ति भी उन्हें बहुत अच्छी लगी। सुभाष को अब यह धुन सवार हुई कि वह अंग्रेजों से आगे बढ़ जाएं।

वह जानते थे कि भारत का इतिहास बहुत गौरवशाली रहा है, पर इस समय वह दलदल में फंसा हुआ है। पुरानी गौरव-गाथा गाने से या उनके स्मरण मात्र से भारत बड़ा नहीं हो सकता। बड़ा होने के लिए यह आवश्यक है कि अंग्रेजों की तरह परिश्रम किया जाए और साथ ही यह स्मरण रखा जाए कि हमें पराधीन देश को आगे बढ़ाना है।

जब वह इंग्लैंड पहुंचे, तो उन्होंने देखा कि आई०सी०एस० की अगली परीक्षा 8 महीनों के अन्दर होने वाली है। सब लोग यह समझते थे कि भला इन 8 महीनों में सुभाष कैसे परीक्षा में बैठ सकते हैं और यदि बैठे भी तो वह सफल नहीं हो सकते। पर उन्होंने अपने सब रिश्तेदारों की आशंका को व्यर्थ करते हुए पढ़ाई शुरू कर दी और समय थोड़ा होते हुए भी आई० सी० एस० की परीक्षा में बैठे। अब भी उनके मन में यह दुविधा थी कि मैं जो कुछ कर रहा हूं, वह ठीक नहीं है। मैं अपने साथ न्याय नहीं कर रहा हूं। मैं जो हूं, उससे अलग जा रहा हूं।

कुछ भी हो, जब परीक्षा का फल निकला, तो मालूम हुआ कि वह न केवल सफल हुए हैं, बल्कि उनका नम्बर सफल परीक्षार्थियों में चौथा है और अंग्रेजी रचना में उनका स्थान प्रथम है।

सुभाष को जब अपनी परीक्षा का फल मालूम हुआ, तो अपने रिश्तेदारों की तरह वह खुश नहीं हो सके। उन्होंने अपने से कहा—अरे, मैं तो और बुरी तरह फंस गया।

देश-सेवा करने का फैसला

वह आई० सी० एस० के साथ ही दूसरी पढ़ाई भी कर रहे थे और 1921 में

उन्होंने कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में नीतिशास्त्र में ट्रिपोज या विशेषता हासिल कर ली। इस परीक्षा में वह अधिक चाव के साथ बैठे थे, क्योंकि वह समझते थे कि यह परीक्षा उनके भावी जीवन के निर्माण में अधिक सहायक होगी। वह यह समझते थे कि हम इस ज्ञान से एक आदर्श शिक्षक हो सकेंगे।

इस प्रकार सुभाष बड़ी परीक्षाओं में तो उत्तीर्ण हो गए। अब जीवन उनके सामने मुंह बाए खड़ा था। मन में सन्देह हिलोरें ले रहा था कि मैं आई० सी० एस० बन कर ब्रिटिश सरकार का एक औजार बन जाऊं और अपने सारे जीवन को उनके साम्राज्य को मजबूत और स्थायी बनाने में लगाऊं या और कुछ करूं ? ऐसी दुविधा में उन्होंने अपने बड़े भाई शरतचन्द्र बोस की सलाह मांगी। शरतचन्द्र बोस बात समझ गये और उन्होंने कहा कि यदि तुम्हारी इच्छा आई० सी० एस० बनने की नहीं है, तो तुम आई०सी०एस० मत बनो। उन्होंने यह भी कहा कि मैं तुम्हारा सब भार लेता हूं। यदि तुम जेल चले गए, तब तो जेल चले ही गए। पर यदि बाहर रहे तो सारा खर्च मैं उठाने के लिए तैयार हूं।

इस प्रकार अपने बड़े भाई शरतचन्द्र बोस से आशीर्वाद, परामर्श तथा अभयदान पाकर उन्होंने अपने पिता को फैसले की सूचना दी। उनके पिता यह चाहते थे कि वह आई० सी० एस० होकर बड़ा अफसर बने और परोपकार करे। पर जब सुभाष ने दूसरा निश्चय लिख कर भेजा, तो उन्होंने अपने पुत्र को यह लिख भेजा—जब तुमने देश-सेवा करने का फैसला कर लिया है, तो ईश्वर तुम्हें सफलता दे।

इस पर सुभाष ने जो उत्तर लिखा, वह भी उन्हीं के लायक था। उन्होंने लिखा—पिताजी, आज मुझे आप पर जितना गर्व हो रहा है, उतना मुझे इससे पहले कभी नहीं हुआ।

आई० सी० एस० से इस्तीफा

जब लन्दन के इंडिया आफिस को यह सूचना प्राप्त हुई कि सुभाष बोस आई०सी० एस० में चौथा स्थान प्राप्त करने पर भी सरकारी नौकरी नहीं लेना चाहते, तो उनको बड़ा आश्चर्य हुआ। यही नहीं, उन्हें बड़ा धक्का-सा लगा, क्योंकि यह ऐसा उदाहरण था जिससे कि साम्राज्य की साख पर चोट लगती थी। सम्राट या साम्राज्य के नेता साख पर ही राज्य करते हैं। जब वही साख नहीं रही, तो राज्य क्या रहेगा ? लोग तो यह समझते थे कि आई० सी० एस० होना बहुत बड़ा सम्मान है।

उन दिनों भारत में कांग्रेस के जरिए भी यही आंदोलन होता था कि भारतीयों को बड़ी नौकरियों में लिया जाए और सबसे बड़ी नौकरी आई०सी० एस० की नौकरी मानी

जाती थी। इंडिया ग्राफिस की यह समझ में नहीं आया कि एक भारतीय आई० सी० एस० का ऊंचा पद पाकर भी कैसे छोड़ सकता है ? पर सुभाष बोस ब्रिटिश सरकार के नौकर होने को तैयार नहीं थे।

भारत सचिव के दफ्तर ने इस पर यह चेष्टा की कि किसी तरह सुभाष मान जाएं और अपना फैसला बदल दें। उन दिनों एफ० डब्लू० ड्यूक नामक एक अंग्रेज अफसर था, जो पहले कटक डिवीजन का कमिश्नर था और इस नाते उसका परिचय सुभाष के पिता जानकीनाथ से था। ड्यूक ने सुभाष के बड़े भाई शरतचन्द्र बोस को, जो उन दिनों लन्दन में थे, बुला भेजा और उनसे यह कहा कि आप सुभाष को समझाएं कि वह अपना त्यागपत्र वापिस ले लें। अंग्रेज अफसर यह तो समझ सकते थे कि कोई व्यक्ति आई० सी० एस० में आ जाए और फिर उस पर कोई दोष लगा कर उसे निकाल दिया जाए, पर यह उनके लिए अकल्पनीय था कि कोई आई० सी० एस० में आकर खुद उसे ठुकरा दे। इससे साम्राज्य के रोब को ठेस पहुंचती थी। ड्यूक ने शरतचन्द्र को समझाया और इसके साथ ही साथ उन्होंने जानकीनाथ को भी पत्र लिखा। पर शरतचन्द्र इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कर सकते थे और जानकीनाथ ने भी इस सम्बन्ध में कोई भी बात करने से इन्कार कर दिया।

स्वाधीनता आन्दोलन में प्रवेश

सुभाषचन्द्र बोस 1921 की 16 जुलाई को बम्बई पहुंचे और भारत पहुंचते ही वह राजनैतिक आंदोलन में कूद पड़े। थोड़े में यह बता दिया जाए कि प्रथम महायुद्ध (1914-1918) में विजयी होने के बाद अंग्रेजों ने भारत में अपने राज्य को और मजबूत बनाना चाहा। बात यह है कि महायुद्ध के दौरान भारत में क्रांति की बहुत बड़ी चेष्टा हुई थी जिसमें क्रांतिकारियों ने जर्मनी से मिलकर भारत में ब्रिटिश राज्य को उलटने के लिए षड्यंत्र किया था। भारत की ब्रिटिश सरकार ने कुछ फुर्सत पाते ही न्यायाधीश रौलट की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की, जिसको यह कार्य सौंपा गया कि जांच करके उपाय बताए कि किस प्रकार सरकार विरोधी आंदोलन दबाया जा सकता है। स्मरण रहे कि उन दिनों कांग्रेस सरकार की उतनी विरोधी संस्था नहीं थी। केवल क्रांतिकारी ही सरकार का विरोध करते थे और ऐसा करते हुए सैकड़ों क्रांतिकारी फांसी पर चढ़ चुके थे और हजारों क्रांतिकारी अन्दमान की काल कोठरियों में पहुंच चुके थे।

रौलट कमेटी को सिफारिश बहुत ही भयंकर थीं। उनसे भारतीयों की रही-सही स्वतन्त्रता भी समाप्त हो जाती थी। इस समय देश के सामने यह समस्या आई कि वह इस विपत्ति में क्या करे? पुराने ढंग की कांग्रेस इस चुनौती को स्वीकार करने में असमर्थ थी। उन्हीं दिनों गांधी जी सामने आए और उन्होंने रौलट बिल की चुनौती स्वीकार करते हुए यह कहा कि रौलट बिल पास होगा, तो हम असहयोग करेंगे। लोगों ने देश को इस विपत्ति में गांधी जी को हाथों-हाथ उठा लिया और सारे देश में एक आंदोलन चल पड़ा। यह आंदोलन असहयोग आंदोलन कहलाया। इस आंदोलन के कारण कांग्रेस का रूप बदल गया। कांग्रेस पहले ऐसे लोगों की संस्था थी, जिसमें प्रतिवर्ष बड़े दिनों की छुट्टियों में लोग इकट्ठा होकर कुछ प्रस्ताव पास कर लिया करते थे। अब उसके बजाय कांग्रेस एक संग्राम करने वाली संस्था बन गई।

1919 में पंजाब के जलियांवाला बाग में एक सभा इसी रौलट बिल के विरोध में हो रही थी। इसमें यकायक फौज की एक टुकड़ी आई और उसने गोलियां बरसा कर बहुत से निहत्थे लोगों को मार डाला। सरकारी तौर पर माना गया कि 500 व्यक्ति मारे गए। पर दूसरे लोगों का कहना था कि कम से कम 1000 व्यक्ति मारे गए थे।

इसकी बड़ी भारी प्रतिक्रिया हुई। अब सारे देश में जलियांवाला बाग काण्ड को लेकर लोग सभाएं करने लगे। देश में उथल-पुथल मच गई और कांग्रेस के अन्दर ऐसे-ऐसे लोग भी आए जो अभी तक अपनी विलासिता के लिए मशहूर थे। उन्हीं दिनों उत्तर भारत में मोतीलाल नेहरू के साथ उनका सारा परिवार और बंगाल में चित्तरंजनदास उठे। चित्तरंजनदास बहुत बड़े वकील थे। उनकी रोज की आमदनी हजारों रुपयों की थी और यही बात मोतीलाल नेहरू के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है।

सुभाष जब भारत में आए, वह सीधे कलकत्ता पहुंचे और देशबन्धु चित्तरंजनदास के रूप में उन्हें गुरु मिल गया, जिसकी उन्हें बचपन से तलाश थी और जिसकी टोह में उन्होंने उत्तर भारत के तीर्थ-स्थानों में बहुत कम उम्र में ही चक्कर लगाए थे। देशबन्धु चित्तरंजनदास लाखों की आमदनी पर लात मार कर राष्ट्रीय आंदोलन में कूद पड़े और वास्तव में एक रात में ही राजा से रंक हो गए।

देशबन्धु से सम्पर्क

जब ऐसा आदमी मिल गया, तो सुभाष को सन्तोष हुआ कि हां, यह मेरे गुरु होने लायक हैं। सुभाष अपने अन्दर यह अनुभव करते थे कि मैं साधारण तौर से नौकरी करने के लिए या वकालत करने के लिए पैदा नहीं हुआ, बल्कि मुझे कुछ बड़ा काम करना है। उन्हें मालूम पड़ा कि अब वह पूरा होने जा रहा है। उन्हें अब यह समझ में आया, जैसा कि उन्होंने बाद में लिखा, कि मेरी साधना अपने मोक्ष के जरिए से नहीं, बल्कि राष्ट्र के मोक्ष के जरिए से पूर्ण होनी थी। यह एक ऊंचा आदर्श था, जो सुभाष जैसे उच्चशिक्षित व्यक्ति को मोहित कर सकता था।

उन्हें साधु बनकर हिमालय में भटकना पसन्द नहीं था। वह देख चुके थे कि इसमें शांति नहीं है। अगर उठना ही है, आगे बढ़ना है, तो अकेले उठना या आगे बढ़ना कुछ नहीं है, बल्कि एक ऊंचे कार्य को लेकर सारे देश को अपने साथ में लेकर चलना है। सुभाष को यह पसन्द नहीं था कि अरविन्द घोष की तरह जाकर पाण्डिचेरी में आश्रम में बैठ जाया जाए। उन्होंने बाद को 1928 में 25 दिसम्बर को यह लिखा कि देश के सामने दो महापुरुष हैं और दो विचारधाराएं हैं। एक साबरमती (गांधी जी) की विचारधारा है और दूसरी पाण्डिचेरी (अरविन्द) की विचारधारा है। मैं दोनों की तुलना करना नहीं चाहता, क्योंकि पाण्डिचेरी में जो कुछ हो रहा है उसका मैं प्रशंसक हूं। पर उसमें जो क्रियाहीनता है, वह मुझे पसन्द नहीं। मुझे साबरमती की भी पूरी बातें पसन्द नहीं हैं, क्योंकि वहां यह प्रचार किया जाता है कि आधुनिकता बुरी है,

बड़े कारखाने बुरे हैं, जरूरतों को बढ़ाना नहीं चाहिए, रहन-सहन के ढंग को ऊंचा नहीं करना चाहिए, इत्यादि, इत्यादि ।

इस प्रकार उन्होंने दोनों आश्रमों की आलोचना की, पर साथ ही उन्हें गांधी जी की कर्मठता पसन्द थी, यद्यपि वह उनके विचारों से पूरी तरह सहमत नहीं थे ।

क्रांतिकारियों से प्रभावित

सुभाष सभी से अनुप्रेरणा लेते रहे । वह एक हद तक अरविन्द के भी भक्त रहे, गांधी जी के तो वह अनुयायी ही बन गए । साथ ही वह बंगाल के क्रांतिकारियों से भी बहुत प्रभावित रहे ।

सुभाष जब देशबन्धु से मिले और यह कहा कि मैं बड़े सन्देह में पड़ा हुआ हूं, मुझे मालूम नहीं कि मुझे क्या करना चाहिए, तब देशबन्धु ने कहा कि अभी तुम नौजवान हो और तुम्हें तजुर्बा भी कम है । फिर भी देश की सेवा सब लोग कर सकते हैं । देशबन्धु ने उन्हें यह आदेश दिया कि तुम राष्ट्रीय कालेज के अध्यक्ष हो जाओ और इस प्रकार से काम शुरू करो । इसके अलावा सुभाष को कांग्रेस के स्वयंसेवक दल का कप्तान भी बना दिया गया ।

सितम्बर 1921 में देशबन्धु के घर पर कांग्रेस कार्यसमिति के लोगों से सुभाष मिलाए गए और उन्हीं दिनों क्रांतिकारियों से भी उनका प्रत्यक्ष परिचय हुआ । उस जमाने में इंग्लैंड के युवराज भारत पधार रहे थे । उस सम्बन्ध में कांग्रेस ने यह तय किया कि युवराज का स्वागत नहीं करना है । ऐसा युवराज के प्रति किसी प्रकार के द्वेष के कारण नहीं, बल्कि ब्रिटिश साम्राज्य के विरोध के रूप में किया जाना था ।

असहयोग आन्दोलन में भाग

उन दिनों गांधी जी ने एक साल के अन्दर स्वराज्य का नारा दे रखा था और यह कहा था कि यदि तिलक स्वराज्य फण्ड में एक करोड़ रुपये इकट्ठा हो गए और कांग्रेस के एक करोड़ सदस्य हो गए तो 31 दिसम्बर, 1921 तक स्वराज्य अवश्य हो जाएगा । सुभाष को 31 दिसम्बर, 1921 की आधी रात तक स्वराज्य होने वाली बात समझ में नहीं आई । पर महात्मा जी के अन्धभक्त उन दिनों ऐसा ही कहते थे और यह दिखाते थे कि उन्हें ऐसा विश्वास है ।

गांधी जी ने शायद लोगों में विश्वास उत्पन्न करने के लिए यह नारा लगाया था । पर सुभाष को यह बात गलत लगी । फिर भी सुभाष ने तनमन-धन से असहयोग में पड़ना उचित समझा ।

उन दिनों मुसलमान भी कांग्रेस के साथ हो गए थे। इसका कारण यह था कि गांधी जी ने खिलाफत आंदोलन को भी कांग्रेस का एक भाग बना लिया था। प्रथम महायुद्ध में तुर्की, जर्मनी की तरफ था। जर्मनी के हारते ही वह हार गया और उसके साम्राज्य के टुकड़े-टुकड़े कर दिए गए। इस पर भारत के मुसलमानों ने यह मांग की कि तुर्की के खलीफा को फिर से गद्दी पर बैठाया जाए और इस प्रकार खिलाफत की रक्षा की जाए। मुसलमानों की इस मांग का गांधी जी ने समर्थन किया। इसका नतीजा यह हुआ कि मुहम्मद अली और शौकत अली के रूप में कांग्रेस को दो बहुत बड़े नेता प्राप्त हुए थे। इसी कारण भारत में युवराज के स्वागत का बायकाट बहुत सफल रहा और देश में एक क्रांतिकारी स्थिति उत्पन्न हो गई।

लार्ड रीडिंग, जो उन दिनों वायसराय थे, बहुत घबराए हुए थे। यद्यपि गांधी जी के अलावा सारे बड़े नेता जेल भेज दिए गए थे, फिर भी लार्ड रीडिंग ने पं० मदनमोहन मालवीय के जरिए नेताओं के साथ बातचीत करनी चाही। पर महात्मा जी ने यह कहा कि पहले अली बन्धुओं को छोड़ा जाए, तब हम बातचीत कर सकते हैं। बात यह है कि अली बन्धुओं को राजद्रोह मूलक भाषण देने के कारण सजा हुई थी और महात्मा जी ने इस शर्त को यह देखने के लिए लगाया कि सरकार कहां तक ईमानदार है। लार्ड रीडिंग ने यह कहा कि मैं सबको छोड़ने के लिए तैयार हूं, पर पहले बातचीत की जाए, तब सबको छोड़ा जाएगा।

यह पहले ही बताया जा चुका है कि सुभाष राष्ट्रीय कालेज के अध्यक्ष और स्वयं-सेवक दल के कप्तान के रूप में बड़ा अच्छा कार्य कर रहे थे।

राष्ट्रीय विद्यापीठ के अध्यक्ष

सुभाष ने राष्ट्रीय विद्यापीठ के अध्यक्ष के रूप में बहुत मूल्यवान कार्य किया। वह बहुत सवेरे विद्यापीठ में पहुंच जाते थे और रात तक काम करते रहते थे। वहां मेज कुर्सी की व्यवस्था नहीं थी, इसलिए वह जमीन पर बैठ कर ही काम करते थे। अभी-अभी वह विलायत से आई. सी. एस. की परीक्षा देकर लौटे थे, इसलिए इस प्रकार साधारण आदमी की तरह जमीन पर बैठ कर घण्टों काम करने का लोगों पर बहुत अच्छा असर पड़ता था।

इसके अलावा कांग्रेस के प्रचार विभाग में उनके काम की भी सब लोगों ने सराहना की। वह देखते रहते थे कि सरकार कांग्रेस के विरुद्ध कौन-सा दांव खेल रही है और लोगों को किस भुलावे में डाल रही है। उसी के अनुसार वह कार्यक्रम बनाते थे और उन्हीं विषयों में अखबारों में अपना वक्तव्य प्रकाशित कराते थे। कलकत्ता के गोरे-

अखबार भी उनके इस प्रचार से बहुत परेशान हो गए और सब लोग यह अनुभव करने लगे कि अब एक ऐसा आदमी आया है, जिसके साथ लोहा लेना टेढ़ी खीर है।

इसके अलावा वह कांग्रेस के स्वयंसेवक संगठन के कप्तान भी थे। वह वर्दी पहन कर जाते थे, तो उनको देखने के लिए लोग जमा हो जाते थे और स्वयंसेवकों पर बड़ा प्रभाव पड़ता था कि यह व्यक्ति, जो आराम से रुपया कमा सकता था, वही उन लोगों के बीच इस तरह से काम कर रहा है।

जेल-यात्रा

जब गिरफ्तार होने की बारी आई तो देखा गया कि सरकार सबको गिरफ्तार कर रही है, लेकिन नेताओं को गिरफ्तार नहीं कर रही है। इस पर देशबन्धु दास ने यह वक्तव्य दिया, "मैं बूढ़ा और कमजोर होता जा रहा हूं और लड़ाई अभी शुरू हुई है। उन लोगों ने मुझे गिरफ्तार नहीं किया है। पर मैं ऐसा अनुभव करता हूं कि मेरे हाथों में हथकड़ियां पड़ गई हैं और मेरे शरीर को जंजीरों से जकड़ दिया गया है। मैं असीम कष्ट का अनुभव कर रहा हूं। सारा भारत एक विशाल जेलखाना हो रहा है। इससे कुछ होता जाता नहीं कि मैं गिरफ्तार होता हूं या नहीं। पर एक बात निश्चित है कि कांग्रेस का काम चलना चाहिए, चाहे मैं जिन्दा रहूं या मर जाऊं।"

देशबन्धु ने पहले अपनी पत्नी वसन्तीदेवी और अपने बेटे तथा अपनी बहन उर्मिला-देवी को गिरफ्तारी के लिए भेजा। वे कानून तोड़ने गए और गिरफ्तार कर लिए गए। जब सरकार ने देखा कि जिस बात से वह बचना चाहती है, वह हो रही है तब देशबन्धु और सुभाष बाबू आदि की गिरफ्तारी की बारी आई।

10 दिसम्बर, 1921 को देशबन्धु चित्तरंजन दास, मौलाना अबुल कलाम आजाद तथा सुभाष को गिरफ्तार कर लिया गया। इस प्रकार सुभाष को पहली बार जेल-यात्रा का मौका मिला। 14 फरवरी, 1922 को उन्हें और नेताओं के साथ 6 महीने की सजा दी गई।

गुरु शिष्य साथ-साथ

उन पर यह अभियोग लगाया गया था कि आप लोग एक गैर कानूनी संस्था के सदस्य हैं। सौभाग्य से सुभाष को उसी जेल में रखा गया, जहां देशबन्धु को रखा गया था। अब उन्हें देशबन्धु के साथ दिन-रात सम्पर्क रखने का मौका मिला और मजे की बात यह है कि जितना सम्पर्क बढ़ा, उतना ही उनके प्रति उनका सम्मान बढ़ता चला गया। शिष्य जिस प्रकार से गुरु की सेवा करता है वह उसी प्रकार उनकी सेवा करने लगे। वह केवल उनसे बातचीत ही नहीं करते थे, बल्कि उनका खाना भी पकाते थे और उनके सचिव का काम भी करते थे और साथ ही यह चेष्टा भी करते थे कि गुरु जो भी बात चाहते हैं, उसे पहले से ही जान लें और उसी प्रकार सेवा करें। देशबन्धु भी सुभाष

के शिक्षक ही नहीं रहे, वह किसी-किसी विषय में विशेषकर दर्शन शास्त्र में सुभाष से शिक्षा लेते रहे, क्योंकि सुभाष ने दर्शन शास्त्र का गहरा अध्ययन किया था। कहते हैं कि साथ रहने वाले राजनैतिक कैदियों को यह पता नहीं लगता था कि उनमें से कौन गुरु है और कौन चेला ?

इंग्लैंड के वातावरण से आकर सीधे जेल पहुंच जाना और उसमें न केवल खुश रहना, बल्कि उससे लाभ उठाना, यह सुभाष का ही काम था । बाद को चल कर उनके सहकर्मी जवाहरलाल नेहरू ने भी भारत की जेलों में उसी प्रकार स्वाध्याय किया था ।

जब सुभाष जेल से छूटे, तो उनका मन एक तरह से सन्तुष्ट था, पर दूसरी तरह से वह असन्तुष्ट था, क्योंकि गांधीजी ने जिस प्रकार से चौरो-चौरा काण्ड को कारण बना कर चले चलाए असहयोग आंदोलन को स्थगित कर दिया था, वह उन्हें पसन्द नहीं था । उन्हें ही क्यों, मोतीलाल नेहरू सहित सैकड़ों गांधी भक्तों को भी यह बात पसन्द नहीं थी ।

गोरखपुर जिले में चौरी-चौरा नाम का एक गांव है । वहां आंदोलनकारी किसान एक जलूस निकाल रहे थे । इस जलूस पर पुलिस ने गोलियां चलाई और तब तक चलाते रहे जब तक कि उनकी गोलियां खत्म नहीं हो गईं । जब गोलियां खत्म हो गईं, तब वह थाने के अन्दर चले गए और उन्होंने थाने का दरवाजा बन्द कर लिया । भीड़ में बहुत से लोग गोलियों से मारे जा चुके थे । इस पर नाराज होकर भीड़ के एक अंश ने थाने पर हमला किया और जब वे किसी तरह दरवाजे नहीं तोड़ सके, तो उन्होंने थाने में आग लगा दी और इस प्रकार पुलिस के 19 सिपाही जान से मारे गए ।

इसी को चौरी-चौरा काण्ड कहा गया । इसमें सैकड़ों आदमी गिरफ्तार हुए और बाद में चलकर बहुत से लोगों को फांसी तथा लम्बी सजाएं हुईं । गांधीजी ने इस घटना पर यह कहा कि भारत असहयोग के लिए तैयार नहीं है, क्योंकि इसमें हिंसा है । इस विचार के अनुसार उन्होंने आंदोलन को वापिस ले लिया ।

बाढ़ पीड़ितों की सहायता

सुभाष इससे खुश नहीं थे । लग रहा था कि जो मार्ग उन्हें दिखाई पड़ा था, वह एकाएक कहीं खो गया है और आगे कुछ नहीं है । पर जब वह छूटे तो उन दिनों उत्तर बंगाल में एक बहुत भयंकर बाढ़ आई हुई थी और सुभाष की आत्मा ने यह पुकारा कि चलो, उत्तर बंगाल के बाढ़-पीड़ित लोगों की सेवा करो । शायद इससे कुछ राहत मिले । प्रसिद्ध वैज्ञानिक प्रफुल्लचन्द्र राय विज्ञान का कार्य छोड़कर वह सारा कार्य कर रहे थे । उन्होंने सुभाष को इस काम का भार दे दिया और सुभाष तुरन्त इस काम में जुट गए ।

महात्माजी ने असहयोग आंदोलन बन्द कर दिया था, इसलिए सब नेता जेल से छूट गए और अब कांग्रेस के सामने दो तरह के कार्यक्रम आए। एक तो वे लोग थे जो कहते थे कि किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं करना है और हम रचनात्मक कार्य करते रहें। दूसरे लोग यह कहते रहे कि हम भले ही रचनात्मक कार्य करें, पर साथ ही साथ हमें विधान सभाओं में घुसना चाहिए और जाकर उनको खत्म करने या उन्हें सुधारने की कोशिश करनी चाहिए। देशबन्धु चित्तरंजनदास तथा मोतीलाल नेहरू दूसरे मत के थे और कांग्रेस के अन्दर उनका जोर इतना बढ़ा कि गांधीजी का प्रभाव घट गया।

'बांगलार कथा' के सम्पादक

जेल से छूटने के बाद देशबन्धु के नेतृत्व में सुभाष बाबू पर जो पहला काम पड़ा, वह यह था कि उन्हें एक बंगला दैनिक 'बांगलार कथा' का सम्पादक बना दिया गया। विधान सभा में घुसना चाहिए, इस मत के प्रतिपादक स्वराज्य दल वाले कहलाते थे। इसी दल कि ओर से 'बांगलार कथा' निकाला गया। देशबन्धु ने एक और अंग्रेजी अखबार 'फारवर्ड' निकाला। उसमें भी सुभाष बाबू पर बहुत कार्य-भार पड़ा। वह उसके प्रबन्धक बनाए गए। वह दिन-रात काम करते थे। उन्होंने स्वयं लिखा है कि यह कार्य ऐसा रहा कि इसमें मुझे दिन-रात एक कर देना पड़ा। इन पत्रों के लेख बड़े जोरदार होते थे, और इनकी समाचार संग्रह की व्यवस्था बहुत तगड़ी थी। इन अखबारों की सबसे बड़ी विशेषता यह रही कि वह सरकारी गुप्त बातों का पता लगा कर उनको छाप देते।

देशबन्धु चाहते थे कि सुभाष भी विधान सभा में जाएं, पर मजे कि बात यह है कि सुभाष बाबू का नाम वोटरों की सूची में न होने से वह विधान सभा के लिए खड़े नहीं हो सके। इसलिए उनको दूसरे कामों में ही रहना पड़ा। 1924 में देशबन्धु दास ने यह सोचा कि कलकत्ता निगम (कार्पोरेशन) पर भी कब्जा कर लिया जाए। फिर क्या था, वे जुट गए। उनकी लोकप्रियता इतनी बढ़ चुकी थी कि उन्हें तथा उनके साथियों को बहुत अधिक वोट मिले और वह स्वयं मेयर बन गए और उन्होंने सुभाष बाबू को निगम का प्रधान कार्यपालक अधिकारी बनाया।

कलकत्ता कार्पोरेशन के अधिकारी

कलकत्ता नगर निगम का कार्यपालक अधिकारी होना बहुत बड़ी बात थी। यहां तक कि लार्ड कर्जन ने एक दफा हंस कर कहा कि यदि मैं वायसराय न होकर कलकत्ता निगम का मुख्य कार्यपालक अधिकारी होता तो अच्छा होता। इसमें 3,000 रुपये वेतन था। पर सुभाष बाबू ने पद ग्रहण करते ही अपना वेतन आधा कर दिया। उस वेतन में से भी वह गरीब छात्रों तथा कठिनाई में पड़े हुए दूसरे कार्यकर्त्ताओं को पैसा देते थे।

सार्वजनिक रूप से कार्य करने के अतिरिक्त सुभाष बाबू किसी न किसी रूप में क्रांतिकारी दल से संयुक्त रहे। उन्होंने जो स्वयंसेवक दल बनाया था, उसके कुछ लोगों ने एक क्रांतिकारी दल बनाया और सुभाष बाबू का उस दल के साथ बराबर सम्बन्ध बना रहा।

क्रांतिकारी आंदोलन का आरम्भ मई 1857 से माना जाता है जब मंगल पांडे ने ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध पहली बार गोलियां चलाईं। तब से क्रांतिकारी आंदोलन कभी चलता, कभी बन्द होता। 1914-17 के प्रथम महायुद्ध के दौरान आंदोलन बहुत बढ़ा। 1921 में जब गांधीजी नें असहयोग का नारा दिया था तब क्रांतिकारियों ने अपना आंदोलन बन्द कर दिया था, पर जब गांधीजी ने चौरी-चौरा के कारण अपना आंदोलन बन्द कर दिया, तो क्रांतिकारियों ने फिर से संगठन शुरू किया। बंगाल में जोर-शोर से संगठन होनें लगा। इसके अलावा उत्तर भारत में भी संगठन चालू रहा। उत्तर भारत के एक क्रांतिकारी नेता कलकत्ता जाते समय गिरफ्तार हो गए और उनके पास बरामद कागजात से यह पता लग गया कि उत्तर भारत में विस्तृत संगठन है।

फिर गिरफ्तारी

सरकार को अब यह लगा कि किसी भी तरह क्रांतिकारी आंदोलन को दबाना चाहिए, इसलिए उसने एक आर्डिनेंस जारी कर दिया। सुभाष बाबू इस आर्डिनेंस के अन्तर्गत 25 अक्तूबर, 1924 को गिरफ्तार हो गए। इस प्रकार वे बहुत थोड़े दिनों तक ही कलकत्ता निगम के प्रधान कार्यपालक अधिकारी रह पाए। जब वह गिरफ्तार होकर नजरबन्द हो गए तो वह उन गरीब छात्रों का जिनकी वह सहायता करते थे तथा दूसरे कठिनाई में पड़े हुए अपने दोस्तों का भार अपने बड़े भाई शरतचन्द्र बोस पर डाल गए। वह बड़ी खुशी से उस बोझ को बरदाश्त करते रहे।

गिरफ्तारी के बाद सुभाष पहले कलकत्ता के अलीपुर सेन्ट्रल जेल में रखे गए। उसके बाद वह बरहमपुर जेल में रखे गए, जहां क्रांतिकारी नजरबन्द रखे जाते थे। कुछ दिन वहां रहने के बाद 1925 को 25 फरवरी की आधी रात को वह कलकत्ता लाए गए और वहां से वह सीधे बर्मा की मांडले जेल में भेजे गए। इससे पहले मांडले की जेल में लोकमान्य तिलक, पंजाब केसरी लाला लाजपत राय तथा सरदार भगतसिंह के चाचा सरदार अजीतसिंह रह चुके थे।

वह बर्मा जेल में इस कारण भेजे गए कि सरकार समझती थी कि भारत में वह जहां भी रखे जाएंगे वहां से वह बाहर के लोगों के साथ किसी न किसी प्रकार सम्बन्ध कर लेंगे। बात यह थी कि सुभाष बाबू भीतर से क्रांतिकारी होने के कारण जेल नियमों

को मानने में विश्वास नहीं करते थे और वह बराबर गुप्त रूप से बाहर के लोगों के साथ सम्बन्ध बनाए रखते थे। उन्होंने अपने जेल जीवन में एक पुस्तक भी लिखी थी, जो छिपाकर बाहर भेजी गई थी। यही पुस्तक बाद में चलकर "भारतीय संग्राम" नाम से यूरोप में प्रकाशित हुई थी। बहुत दिनों तक यह पुस्तक भारत में प्रकाशित न हो सकी, पर जब सुभाष हरिपुरा में 1938 में कांग्रेस के अध्यक्ष बने, तब उस पुस्तक पर से जब्ती का आदेश हटा लिया गया। यह पुस्तक सुभाष की एक मूल्यवान पुस्तक है।

जेल में स्वाध्याय

जेल में सुभाष बहुत जोरों के साथ अध्ययन करते रहे। उनके अध्ययन के विषय थे—इतिहास, मनोविज्ञान, बंगला साहित्य, अपराध विज्ञान, जेल सुधार, धर्म और दर्शन। धर्म पर उन्हें बहुत पहले से दिलचस्पी थी और दर्शन उनके लिए सब से दिलचस्प विषय था।

बर्मा जेल में उनको बहुत ही खराब हालत में रखा गया। उन्होंने स्वयं लिखा है कि जेल की इमारत न पत्थर की बनी थी न ईंटों की, बल्कि तख्तों से बनी थी। इमारत बिल्कुल सरकस वालों के जानवरों के कटघरों की तरह लगती थी। इन इमारतों में हवा सांय-सांय बहती थी। गर्मियों में भयंकर गर्मी लगती थी और जाड़ों में बहुत जाड़ा लगता था। वर्षा से भी अच्छी तरह रक्षा नहीं होती थी। फिर भी वह जैसे-तैसे वहां रहते थे और यह समझते रहे कि यह देश के लिए एक प्रकार की परीक्षा है, जिसे उन्हें झेलना चाहिए।

यों तो वह शांति से रहे, पर दो-चार बार जेलवालों से उनका झगड़ा भी हो गया। उन्होंने यह मांग रखी कि त्योहारों के लिए विशेष खर्च मंजूर होना चाहिए, पर सरकार ने यह नहीं माना। तब उन्होंने भूख हड़ताल की धमकी दी। उन्होंने हड़ताल कर भी दी। परन्तु 11 दिन के अनशन के बाद सरकार ने उनकी मांग मान ली।

बीमारी और जेल से रिहाई

इसके बाद उनका स्वास्थ्य गिरने लगा और फिर वह बराबर बिगड़ता ही चला गया। हालत यह हो गई कि उनके रिश्तेदारों को यह भय होने लगा कि कहीं वह जेल में ही न मर जाएं। उनकी रिहाई के लिए आंदोलन होने लगा, जिससे प्रभावित होकर सरकार ने उनसे यह कहा कि तुम यह वादा करके जेल से छूट सकते हो कि छूटकर किसी भी प्रकार के राजनैतिक आंदोलन में भाग नहीं लोगे। पर उन्होंने ऐसा करने से इन्कार कर दिया।

उन्होंने जेल से पत्र में लिखा—"कोई इस बात पर गम न करे कि मेरी रिहाई की आशा बहुत कम है। सर्वोपरि मेरे माता-पिता को सांत्वना दें, क्योंकि उन्हें बहुत कष्ट होगा। अन्य मित्रों को समझाएं। हमें व्यक्तिगत रूप से, साथ ही सामूहिक रूप से बहुत कष्ट उठाना है, तब जाकर हमें स्वतन्त्रता का खजाना प्राप्त होगा। ईश्वर को धन्यवाद है कि मेरे मन में शान्ति है, और मुझ पर जो भी कष्ट ईश्वर डालें, मैं उसे झेलने के लिए तैयार हूं। मैं अपने ढंग से अपने राष्ट्र के पहले के पापों के लिए कष्ट उठा रहा हूं और मुझे इस प्रायश्चित से खुशी है। हमारे विचार मरने के लिए नहीं, हमारे विचार राष्ट्र के दिमाग से मिटने के नहीं और भावी पीढ़ियों में हमारे विचार सबमें व्याप्त हो जाएंगे। यह विश्वास मुझे कष्ट में बराबर अनुप्रेरित करता रहेगा।"

सरकार ने जब यह देखा कि उनका स्वास्थ्य गिरता चला जा रहा है और उनको कुछ हो गया, तो उस पर बड़ी भारी जिम्मेदारी पड़ सकती है, तो 1927 की 10 मई को वह रंगून से जहाज द्वारा कलकत्ता लाए गए और इसके बाद वह 16 मई को छोड़ दिए गए।

साइमन कमीशन का बायकाट

उनके जेलवास के बीच 16 जून, 1925 को देशबन्धु चित्तरंजन दास की मृत्यु हो चुकी थी। अब जब सुभाष छूटे, तो उन पर बंगाल के नेतृत्व का पूरा भार पड़ गया। उन्हीं दिनों साइमन कमीशन के भारत में आने की बात शुरू हो गई थी और सब दलों ने यह तय किया था कि इस कमीशन का बायकाट करना है। सुभाष ने देश में घूम-घूम कर प्रचार कार्य शुरू किया। वह बराबर पूर्ण स्वतन्त्रता का प्रचार कर रहे थे। इसमें उनके कई साथी थे, जिनमें पंडित जवाहरलाल नेहरू अग्रगण्य थे।

मद्रास कांग्रेस में ही यह निश्चित हो चुका था कि कांग्रेस का उद्देश्य पूर्ण स्वराज्य प्राप्त करना है। पर ऐसा लगता था कि उसे पूरे जोरों के साथ पास नहीं किया गया।

1928 में पंडित मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में कलकत्ता में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। इस अधिवेशन के स्वयंसेवक सेना के कमांडर के रूप में सुभाष सामने आए। पहले ही यह बताया जा चुका है कि वह स्वयंसेवक संगठन के कप्तान के रूप में बहुत अच्छे सजते थे और लोग उन्हें बहुत पसन्द करते थे।

पर इस कांग्रेस के सामने एक ऐसी समस्या आई, जो बहुत ही अद्भुत थी। वह यह थी कि 30,000 मजदूर विभिन्न कारखानों से आ गए और उन्होंने यह कहा कि हमें कांग्रेस के पंडाल के अन्दर मुफ्त में घुसने दिया जाए। यह भोले-भाले लोग यह चाहते थे कि नेताओं का दर्शन करें और उनकी वाणी खुद सुनें। पर इस सम्बन्ध में कुछ

नियम थे। नियम यह था कि पंडाल में जाने के लिए एक मामूली फीस थी। पर इन मजदूरों ने कहा कि हम कोई फीस नहीं देंगे। हम नेताओं का दर्शन करेंगे। इस पर सुभाष बड़ी दुविधा में पड़ गए। एक तरफ यह डर था कि यदि मजदूरों को जाने नहीं देते हैं, तो वे जबरदस्ती पण्डाल में घुसते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि स्वयंसेवक काफी थे, पर उस हालत में स्वयंसेवकों के साथ मजदूरों की पूरी लड़ाई हो जाती और इससे कुछ लाभ नहीं होता, उल्टे अंग्रेजों को खुशी होती। सारे संसार के अखबारों में यह समाचार बड़े मोटे अक्षरों में छपता। फिर भी सुभाष को जो आदेश दिया गया था, वह उसी पर चल सकते थे। इसलिए उन्होंने मजदूरों को रोका। इस पर मजदूरों ने नारे लगाने शुरू कर दिए और यह मालूम हुआ कि वह जबरदस्ती करने वाले हैं। सौभाग्य से यह खबर भीतर पहुंची और पंडित मोतीलाल नेहरू दौड़े हुए बाहर आए। उन्होंने सुभाष की सराहना की, पर उन्होंने साथ ही मजदूरों का जोश देखकर यह आदेश दिया कि उनसे बिना कोई फीस लिए उन्हें पण्डाल के अन्दर घुसने दिया जाए। पर सुभाष से उन्होंने यह कहा कि उनसे यह कह दिया जाए कि वह लाइन बना कर ही घुस सकते हैं। मजदूर इस बात को मान गए और तदनुसार सारे मजदूरों को पण्डाल के अन्दर घुसने दिया गया। इस प्रकार एक बहुत टेढ़ी समस्या का समाधान हो गया। सुभाष मजदूरों के भी नेता थे, पर इस अवसर पर वह सिर्फ कांग्रेस के स्वयंसेवकों के कप्तान थे। मोतीलाल नेहरू और सुभाष के सहयोग से परिस्थिति बिगड़ने से बच गई।

इस बीच क्रांतिकारियों का जोर भी बढ़ रहा था। बंगाल में क्रांतिकारी आंदोलन बहुत तेजी पर था। 1927 के दिसम्बर में उत्तर भारत के चार प्रसिद्ध क्रांतिकारियों को यानी रामप्रसाद बिस्मिल, रोशनसिंह, राजेन्द्रनाथ लाहिड़ी और अशफाक उल्ला को फांसी की सजा दो गई थी। इस बीच भगतसिंह और उनका दल भी सामने आ गया था और उन पर मुकदमा चल रहा था।

इंडिपेंडेंस लीग की स्थापना

1929 के दिसम्बर में लाहौर में कांग्रेस का जो अधिवेशन हुआ, उस में फिर से पूर्ण स्वतन्त्रता का प्रस्ताव पास हुआ। पर इसके पहले ही सुभाष बाबू तथा जवाहरलाल नेहरू ने मिल कर इंडिपेंडेंस लीग या स्वतन्त्रता संघ के नाम से एक संस्था की स्थापना की थी। इस संस्था का उद्देश्य यह था कि यदि कांग्रेस पूर्ण स्वतन्त्रता के ध्येय को नहीं अपनाती, तो जरूरत पड़ने पर अलग संस्था कायम की जाए। पर महात्माजी ने जवाहरलाल नेहरू को लाहौर कांग्रेस का अध्यक्ष बना दिया। इसके अलावा लाहौर कांग्रेस में स्वतन्त्रता का प्रस्ताव पास हो गया, जिससे इंडिपेंडेंस लीग का पैदा ही निकल गया।

सुभाष तथा उनके क्रांतिकारी साथी इन बातों को अच्छी तरह समझते रहे, पर वे कुछ करने में असमर्थ रहे। अब अलग आंदोलन करने या संस्था चलाने की कोई गुंजाइश नहीं रही। अब इसी में भलाई थी कि सारी कांग्रेस को धीरे-धीरे आंदोलन की ओर धकेला जाए, ताकि देशव्यापी संघर्ष हो। इसी में सुभाष तथा अन्य लोग लग गए। 1930 में नमक सत्याग्रह हुआ, जिसमें भारत में गिरफ्तारियां हुईं। कांग्रेस और क्रांतिकारी दल में काम करने के अतिरिक्त सुभाष मजदूर आंदोलन में भी काम कर रहे थे। वह भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस के अध्यक्ष बनाए जा चुके थे और अन्य प्रकार से भी मजदूर आंदोलन से उनका सम्बन्ध बना रहा। 1930 में टाटानगर में वह एक मजदूरों की सभा में बोल रहे थे, इतने में उन पर तथा उनके साथियों पर दूसरे पक्ष के लोगों ने हमला बोल दिया। इस पर उनसे कहा गया कि आप किसी निरापद जगह पर जाकर आश्रय लें, पर उन्होंने ऐसा करने से इन्कार कर दिया। सभा चलती रही और अन्त में उनके विरोधी उपद्रव बन्द कर चुप हो गए।

बार-बार गिरफ्तारी और रिहाई

दूसरे नेताओं के साथ सुभाष भी जेल गए, पर वहां भी उन्हें शान्ति नहीं मिली। उन दिनों अलीपुर सेण्ट्रल जेल के अन्दर बहुत से क्रांतिकारी कैद थे। कुछ क्रांतिकारी कैदियों के साथ दुर्व्यवहार हो रहा था। सुभाष के साथ उनका कोई सम्बन्ध न होते हुए भी वह उस जगह पहुंच गए और उन्होंने कहा कि इन क्रांतिकारी हवालातियों के साथ

सत्याग्रह करते हुए

ऐसा व्यवहार नहीं हो सकता। इस पर जेल के पठान वार्डरों ने उन पर हमला कर दिया और मारते-मारते उन्हें बेहोश कर दिया।

वह सजा पूरी करके छूट गए और फिर 1931 की 26 जनवरी को कलकत्ता के मेयर के रूप में वह एक बड़े जलूस के साथ आक्टरलोनी स्मारक की तरफ एक सभा करने के लिए चले। उस समय सरकार ने सभा करने पर रोक लगा दी थी। रास्ते में पुलिस ने इस जलूस पर हमला कर दिया तथा उन्हें और उनके साथियों को बहुत चोटें आईं। सब के सिर फट गए और किसी-किसी को हड्डियां भी टूट गईं। सुभाष के हाथ में झण्डा था और यह वही 26 जनवरी का दिन था, जिस दिन लाहौर में स्वतन्त्रता का ध्येय घोषित किया गया था। पुलिस वालों ने बहुत चाहा कि सुभाष के हाथ से झण्डा छीन लें। पर वह तब तक झण्डा देने से इन्कार करते रहे, जब तक कि उनके हाथ की उंगलियों में जरा भी ताकत बनी रही। उनकी कई उंगलियों की हड्डियां इस झगड़े में टूट गईं और उनके सिर से खून बह रहा था। वह गिरफ्तार हो गए।

इस प्रकार वह बराबर गिरफ्तार होते और छूटते रहे। गांधी जी अपने विचारों के अनुसार कभी आंदोलन चलाते कभी बन्द कर देते। 1930 का आंदोलन गांधी-इर्विन समझौते में खत्म हुआ, जिसके फलस्वरूप सब कैदी छूट गए।

यूरोप यात्रा

1932 में वह बम्बई से लौट रहे थे कि 2 जनवरी को गिरफ्तार कर लिए गए और फिर मार्च 1933 तक नजरबन्द रखे गए। उनका स्वास्थ्य फिर बहुत बिगड़ गया। तब सरकार ने उन्हें बीमारी का इलाज कराने के लिए यूरोप जाने की अनुमति दी। वह जनवरी 1935 में मुख्यत: मध्य यूरोप में रहे। प्रवास अप्रैल 1936 तक चलता रहा। सरकार नहीं चाहती थी कि वह लौट कर आएं, पर वह लौटे और उन्हें बम्बई में जहाज से उतरते ही गिरफ्तार कर लिया गया और फिर इसके बाद उन्हें कई जेलों में रखा गया। उनका स्वास्थ्य एकदम गिर गया, तब उन्हें फिर छोड़ दिया गया। अब की बार फिर वह इलाज कराने के लिए यूरोप गए और जब वह इलाज करा ही रहे थे कि उस समय वह कांग्रेस के 51वें अधिवेशन के अध्यक्ष चुने गए। इस पर वह भारत आए और उन्होंने हरिपुरा कांग्रेस अधिवेशन की अध्यक्षता की। इस अधिवेशन में किसानों के विषय में विशेष प्रस्ताव पास हुआ।

कांग्रेस के अध्यक्ष रहते समय ही गांधी जी के साथ उनका विरोध सामने आने लगा था। सुभाष यूरोप में रहते समय वहां के बड़े नेताओं हिटलर, मुसोलिनी तथा दूसरे नेताओं से मिल चुके थे और वह समझ रहे थे कि जल्दी ही भयंकर लड़ाई छिड़ने वाली है। वह चाहते थे कि देश को लड़ाई के लिए तैयार किया जाए और इस समय जिस प्रकार कांग्रेस प्रान्तों में विधान सभाओं में जाकर मंत्रिमंडल चला रही है, वैसा न करे।

त्रिपुरी कांग्रेस के अध्यक्ष

इस पर उनका झगड़ा चलता रहा और महात्मा गांधी की इच्छा के विरुद्ध वह अगली कांग्रेस की अध्यक्षता के लिए भी खड़े हो गए। उनका कहना यह था कि ऐसा मैं नहीं चाहता। मैं तो एक विचारधारा के लिए लड़ रहा हूं। यदि मेरे बदले आचार्य नरेन्द्रदेव को अध्यक्ष बनाया जाए, तो मैं तैयार हूं। पर समझौता न हो सका।

सुभाष केवल लड़ने की ही सोचते थे, वह बात नहीं है। 1938 में जब वह कांग्रेस के अध्यक्ष थे, उन्होंने प्रान्तों के उद्योग मन्त्रियों का एक सम्मेलन बुलाया था और इस प्रकार से योजना की नींव डाली थी। इसमें जवाहरलाल नेहरू ने अध्यक्ष के रूप में बहुत काम किया था और उसकी बहुत मोटी रिपोर्ट प्रस्तुत हुई थी। इससे यह प्रमाणित होता है कि स्वराज्य से पहले से ही देश के नेता रचनात्मक ढंग से सोचते थे।

महात्माजी की इच्छा के विरुद्ध सुभाष त्रिपुरी कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गए। महात्माजी ने उनके विरुद्ध पट्टाभि सीतारामैया को खड़ा किया था और जब पट्टाभि हार गए, तो महात्माजी ने यह वक्तव्य दिया—पट्टाभि की हार मेरी हार है।

कांग्रेस अधिवेशन में भाषण करते हुए

सुभाषचन्द्र बोस अध्यक्ष तो बन गए, पर वह कार्यसमिति नहीं बना सके यानी उन्होंने जो कार्यसमिति बनाई, उसके सदस्यों ने उनके साथ काम करने से इन्कार किया। इस बीच गांधीजी ने राजकोट में अनशन किया था, जिसका बड़ा प्रभाव पड़ा था और साधारण कांग्रेसी यह चाहते थे कि झगड़ा न बढ़े। जब सभी पुराने नेताओं ने सुभाष के साथ काम

करने ने इन्कार कर दिया, तब सुभाष के लिए इसके सिवा कोई चारा नहीं रहा कि वह अध्यक्षता से इस्तीफा दे दें।

फारवर्ड ब्लाक की स्थापना

इसके बाद सुभाष ने बहुत तरह की चेष्टाएं कीं, पर उसका कोई विशेष लाभ नहीं हुआ। उन्होंने 1939 के जून में कांग्रेस के अन्दर फारवर्ड ब्लाक की स्थापना की, पर दुर्भाग्य से उसमें ऐसे लोग आए जो विशेष योग्य साबित नहीं हुए। नतीजा यह हुआ कि सुभाष के लिए कांग्रेस में रहना भी कठिन हो गया। सच तो यह है कि सुभाष को बंगाल कांग्रेस की अध्यक्षता से और यहां तक कि कांग्रेस की सदस्यता से भी लगभग अलग कर दिया गया। और कोई व्यक्ति होता तो वह यहीं पर समाप्त हो जाता, पर सुभाष इस तरह से दबने वाले नहीं थे। उनमें अदम्य देशभक्ति की जो भावना थी, उसने अपना दूसरा रास्ता खोज लिया।

1939 के सितम्बर में दूसरा महायुद्ध छिड़ गया। सुभाष ने बहुत पहले से ही कहा था कि यह महायुद्ध आ रहा है। हमें इसका फायदा उठा कर अंग्रेज सरकार का तख्ता उलटने की तैयारी करनी चाहिए। महायुद्ध छिड़ने पर भी कांग्रेस फौरन कुछ नहीं कर सकी। हां, उसने अपने मन्त्रिमंडलों को इस्तीफा देने के लिए कह दिया और इसके बाद 1940 की मार्च में रामगढ़ कांग्रेस हुई। इस कांग्रेस के अध्यक्ष थे मौलाना अब्दुल कलाम आजाद। सुभाष ने भी रामगढ़ में समझौता विरोधी सम्मेलन किया, जो बहुत सफल रहा। कांग्रेस ने ब्रिटिश सरकार से यह पूछा कि युद्ध के उद्देश्य क्या हैं ? यदि युद्ध का उद्देश्य लोकतन्त्र की रक्षा है, जैसा कि दावा किया जाता था, तो भारत में लोकतन्त्र की स्थापना होनी चाहिए। तभी भारत खुल कर लड़ाई में सामने आ सकता है। सरकार ने कोई उत्तर नहीं दिया।

व्यक्तिगत सत्याग्रह

तब कांग्रेस ने व्यक्तिगत सत्याग्रह शुरू कर दिया। सुभाष ने भी हालवेल स्मारक के सम्बन्ध में सत्याग्रह शुरू कर दिया। 1940 की 30 जुलाई को वह सत्याग्रह करने वाले थे, पर इसके पहले दिन वह बंगाल सरकार के आदेश से भारत रक्षा कानून के अन्तर्गत गिरफ्तार कर लिए गए। सत्याग्रह चलता रहा। पर सुभाष जेल में पहुंच गए। जेल में रहते समय ही सुभाष ढाका के निर्वाचन क्षेत्र से अक्तूबर 1940 में विधान परिषद के सदस्य चुने गए।

इसके पहले ही उन्होंने कलकत्ता में एक बहुत बड़ा कार्य किया था, जिसका उल्लेख

यहां होना चाहिए। वह है महाजाति सदन की स्थापना। इस सदन का उद्देश्य यह था कि इसमें शहीदों तथा देश सेवकों के चित्र रखे जाएं और यहां एक बड़ा सभा मंच हो, जहां देश के नेतागण समय-समय पर भाषण देते रहें।

बहुत दिनों से इसका कार्य चल रहा था। 1938 की 19 जुलाई को कलकत्ता निगम से सदन के लिए जमीन मांगी गई और 3 अगस्त को जमीन मिल गई। 19 अगस्त 1940 को महाजाति सदन तैयार हो गया और उसके उद्घाटन का कार्य महाकवि रविन्द्रनाथ ठाकुर के द्वारा कराया गया। अजीब बात यह है कि जब इस तरह महाजाति सदन की स्थापना हो रही थी, तब कांग्रेस की कार्यसमिति के आदेशानुसार सुभाषचन्द्र बोस करीब-करीब कांग्रेस से निकाले जा चुके थे। जो कुछ भी हो, महाजाति सदन की स्थापना बड़ी धूमधाम से हुई और कवीन्द्र रवीन्द्र ने उसे अपना आशीर्वाद दिया। उन्होंने यह कहा—भारत के इस महान सदन में हम देश की वीरता की नींव रख रहे हैं। पर हमारी शक्ति उद्धत जातिवाद में न होगी, जिसमें शत्रु और मित्र दोनों के प्रति सन्देह किया जाता है।

अंग्रेज़ों की मुट्ठी से निकल भागे

सुभाषचन्द्र बोस इसके बाद जो जेल गए, तो वह उनकी अन्तिम जेल यात्रा थी, क्योंकि इसके बाद वह देश से भाग निकले। उनके भागने की कथा बड़ी विचित्र है।

वह बीमारी के कारण जेल से रिहा हुए थे। भागने के लिए बड़ी लम्बी योजना बनी थी। वह रिहा होकर किसी से मिलते नहीं थे। बस इतना पता लगा था कि वह दिन-रात पूजापाठ कर रहे हैं। उन्हें राजनीति या किसी सांसारिक मामले में दिलचस्पी नहीं रह गई थी।

1941 की जनवरी में एक दिन प्रातःकाल लोगों ने यह आश्चर्यजनक समाचार पढ़ा कि युवक नेता सुभाष अपने घर से गायब हो गए हैं। साथ ही लोगों ने यह भी कहा कि वे साधु होकर हिमालय चले गए हैं। यह कहानी कुछ बनती भी थी, क्योंकि बचपन से ही सुभाष बाबू का झुकाव धर्म और अध्यात्म की ओर था। सुभाष बाबू के एक प्रधान सहयोगी सरदार शार्दूलसिंह ने तो यहां तक वक्तव्य दे दिया कि मुझे ज्ञात है कि उन दिनों सुभाष बाबू की प्रवृत्ति वैराग्य की ओर हो रही थी और वह साधु होकर दक्षिण की ओर चले गए होंगे। एक बार वह बचपन में इस तरह भाग भी चुके थे। जितने मुंह उतनी बातें सुनाई पड़ीं।

इन बातों को सुन कर देश के नवयुवकों को बड़ी निराशा हुई। लोगों को उनसे बड़ी आशाएं थी। सच तो यह है कि लोगों ने जहां एक तरफ सुभाष बाबू के साधु बन कर हिमालय या दक्षिण में चले जाने की बात पर विश्वास किया, वहां दूसरी तरफ ऐसे लोग थे, जो इस बात पर अब तक विश्वास नहीं करते थे।

फिर भी लोग कुछ समझ नहीं पा रहे थे। सबसे अधिक परेशान तो ब्रिटिश सरकार थी, जो इस समाचार पर विश्वास करने के लिए तैयार नहीं थी। उन दिनों लड़ाई बड़ी तेजी से चल रही थी और जर्मन सेना की मार के सामने ब्रिटिश सेना के दांत खट्टे हो रहे थे। ब्रिटिश सरकार ने सुभाष बाबू के साधु होकर चले जाने वाले समाचार पर कभी भी विश्वास नहीं किया, परन्तु उसे भी कुछ पता नहीं लग रहा था। इस कारण वह भी घबराई थी, क्योंकि उसे यह डर था कि यदि सुभाष बाबू किसी तरह शत्रु सरकारों के पास पहुंच गए, तो ब्रिटिश सरकार को लेने के देने पड़ जाएंगे।

जब इस प्रकार से सारा भारत और एक प्रकार से सारा जगत कुछ समझ नहीं पा रहा था कि एकाएक सुभाष बाबू को क्या हुआ, उस समय सुभाष बाबू गाड़ी पर सवार होकर पेशावर की ओर यात्रा कर रहे थे।

जब कोई बड़ा स्टेशन आता तो वह समाचार पत्र पढ़ने का बहाना करके मुंह ढक लेते

घर से गायब होने के कई सप्ताह पहले से वे किसी से मिलते नहीं थे। उन्होंने यह खबर उड़ा दी थी कि वे आध्यात्मिक साधना कर रहे हैं और वे इस समय किसी से नहीं मिल सकते। कुछ बहुत विश्वासपात्र लोग ही इन दिनों उनसे मिल सके। असल में वे इन दिनों दाढ़ी बढ़ाने में लगे हुए थे।

वे यह नहीं चाहते थे कि किसी को कानों कान इस बात की खबर लग जाए, क्योंकि यदि सरकार को यह ज्ञात हो जाता कि वे दाढ़ी बढ़ा चुके हैं, तो गायब होने की खबर फैलते ही वह समझ जाती कि सुभाष बाबू किसी मुस्लिम देश की ओर जा रहे हैं और मुसलमान बने हुए हैं। इस कारण उन्होंने दाढ़ी बढ़ाने की बात को एकदम गुप्त रखा और जब दाढ़ी बढ़ गई, तो वह पेशावर को रवाना हो गए।

हावड़ा से रेलगाड़ी पर बैठना असम्भव था। घर-घर में उनके चित्र लगे हुए थे, इस कारण दाढ़ी बढ़ा लेने पर भी कहीं भी पहचाने जाने का बहुत डर था।

वह मोटर से कलकत्ता से 40 मील दूर एक स्टेशन पर पहुंच गए और वहां से वे रात के आठ बजे एक गाड़ी पर सवार हुए। उनके पास दूसरे दर्जे का टिकट था। रात

को कोई घटना नहीं हुई। दिन में भी एक फौजी अफसर आया जिसे उन्होंने इधर-उधर की बातें कह कर टरका दिया। वे उस समय जियाउद्दीन नाम अपनाए हुए थे। उन्होंने अपने को बीमा कम्पनी का संगठनकर्ता बताया। जब कोई बड़ा स्टेशन आता, तो वह समाचार-पत्र पढ़ने का बहाना करके मुंह ढक लेते थे। इस प्रकार वे 17 जनवरी को पेशावर पहुंच गए।

वहां पहले से ही लोग तैयार थे और वे निर्दिष्ट स्थान पर पहुंचे। कई कारणों से दो दिन तक उन्हें पेशावर में रहना पड़ा।

इसके बाद 19 जनवरी को उन्हें पठानी कपड़े दिए गए। अब उनके साथ एक और व्यक्ति चला, जिसका नाम रहमत खां रखा गया था। यह व्यक्ति पश्तो बोल लेता था।

रहमत खां और सुभाष बाबू पठान के वेश में

यह सुभाष को अपना बड़ा भाई बता कर परिचय देता था। सुभाष बाबू वहीं से गूंगे और बहरे बन गए। बात यह थी कि अब उनके लिए बोलना विपत्तिजनक था। वे बने तो

पठान थे, परन्तु उन्हें न फारसी ग्राती थी न पश्तो। इस कारण गूंगा ग्रौर बहरा बनना पड़ा।

काबुल में प्रवेश

रहमत खां लोगों से यह कहता था कि हम लोग कबाइली इलाके के रहने वाले हैं ग्रौर हम काबुल से भी ग्रागे तीर्थ यात्रा के लिए जा रहे हैं। ऐसे बहुत से लोग उधर ग्राते-जाते थे, इस कारण किसी को सन्देह नहीं हुग्रा ग्रौर वे कुछ दूर मोटर पर ग्रौर कुछ पैदल चल कर काबुल पहुंच गए।

परन्तु काबुल पहुंचने से सुभाष बाबू की समस्या हल नहीं हुई। यद्यपि ग्रफगानिस्तान स्वतन्त्र देश है, फिर भी उसकी सरकार पर उस समय ब्रिटिश सरकार का दबाव बहुत ग्रधिक था। इसलिए यह ग्रावश्यक था कि वह काबुल से जल्दी से जल्दी निकल कर किसी बड़े देश में पहुंच जाते।

सुभाष बाबू रूस जाना चाहते थे। परन्तु कलकत्ता में बैठ कर उन्होंने जो व्यवस्था की थी, वह काबुल पहुंचने पर समाप्त हो जाती थी। उन्हें ग्रागे की यात्रा ग्रपनी बुद्धि के बल पर करनी थी। सबसे कष्ट-कर बात यह थी कि काबुल पहुंचते ही उन्हें ऐसा ज्ञात हुग्रा कि ग्रफगानी गुप्तचर उनके पीछे पड़ गए हैं।

काबुल में वह पहले पहल एक बहुत ही गन्दी सराय में ठहरे। यहां पर एक गुप्तचर उनके पीछे लगा। रहमत खां तो कहता ही जाता था कि वह तीर्थ यात्रा के लिए भाई को लेकर चला है, परन्तु वह गुप्तचर किसी प्रकार नहीं मानता था। तब रहमत खां ने उसे कभी दो रुपए कभी पांच रुपए दे दिए ग्रौर इस प्रकार उसका मुंह बन्द रखा। ग्रन्त में एक दिन उस लालची गुप्तचर ने रहमत खां के हाथ में बंधी हुई सुभाष बाबू की घड़ी भी ले ली।

रहमत खां इधर-उधर हाथ पांव मार रहा था कि किसी प्रकार रूसी राजदूत से सम्बन्ध हो जाए। परन्तु इसका ग्रवसर नहीं ग्राया। एक दिन रूसी राजदूत की मोटर को रोक कर रहमत खां ने टूटी-फूटी फारसी में सारी बात बताई, परन्तु राजदूत को विश्वास नहीं हुग्रा ग्रौर वह बात वहीं रह गई।

ग्रब परिस्थिति भयंकर होती जा रही थी। बड़े कष्ट से रहमत खां को काबुल के एक महाजन उत्तमचन्द का पता चला। यह व्यक्ति देशभक्त होने के साथ ही साथ काबुल में प्रभावशाली व्यक्तियों में था। रहमत खां ने सारी बात बता कर सहायता मांगी।

यहां यह बता दिया जाए कि जो व्यक्ति रहमत खां नाम से सुभाष बाबू के साथ

था वह कौन था। जब रहमत खां उत्तमचन्द से मिले, तो उन्होंने यह बताया कि मैं सुभाष बाबू को ले आया हूं और उन्हें रूस भेजना है। उत्तमचन्द को विश्वास नहीं हुआ कि सुभाष बाबू यहां मौजूद हो सकते हैं। तब युवक ने कहा—मेरा नाम भगतराम है, मैं मर्दान जिले के गल्लाढेर का रहने वाला हूं। मेरा भाई हरकिशनलाल क्रांतिकारी था, जिसने पंजाब के गवर्नर पर गोली चलाई थी।

जियाउद्दीन के भेष में

इस प्रकार रहमत खां एक प्रसिद्ध क्रांतिकारी का भाई निकला। पर वहां वह रहमत खां के नाम से ही प्रसिद्ध था। उसने सारी बात बताई कि किस प्रकार से एक खुफिया से साबका पड़ा है और मैं कैसी मुसीबत में हूं। तब उत्तमचन्द सहायता देने को राजी हो गया। नेताजी का नाम जियाउद्दीन रखा गया था और जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है कि नेताजी रहमत खां के बहरे और गूंगे भाई बने हुए थे।

जब उत्तमचन्द को यह बात मालूम हुई तब उसे यह घबराहट हुई कि कैसे वह एक आदमी को अपने घर में छिपा कर रखे। फिर भी उसने हिम्मत की और सुभाष बाबू को अपने घर रखा। इस बीच रहमत खां से कहा गया कि तुम अपना सामान और सुभाष बाबू का सामान यहां ले आओ। सबसे बड़ी समस्या यह थी कि पत्नी से क्या कहा जाए। क्या पत्नी को बता दिया जाए कि सुभाष बाबू आए हुए हैं और हम उनकी मदद कर रहे हैं? कहीं पत्नी घबड़ा न जाए और घबड़ा कर कहीं कुछ कर न बैठे। तब उत्तमचन्द ने पत्नी को सारी बात बता दी और सौभाग्य से उसकी पत्नी ने इसमें सहयोग देना स्वीकार किया और तब सारा कार्य सुचारु रूप से हुआ।

रोम और बर्लिन से सम्पर्क

उत्तमचन्द पहले तो घबड़ाए, परन्तु बाद में देशभक्ति ने विपत्ति की शंका पर विजय पाई और उन्होंने सुभाष बाबू को सब प्रकार से पूरी सहायता दी। उन्हीं की सहायता से इटालियन दूतावास को खबर दी गई और धीरे-धीरे यह खबर रोम और बर्लिन में पहुंच गई। परन्तु सुभाष बाबू रूस जाना चाहते थे। वह डरते थे कि कहीं वे जर्मनी और इटली में फंस गए, तो वे लोग उनसे काम लेने को तो तैयार हो जाएंगे, पर वे जिस काम के लिए यानी भारत की स्वतन्त्रता के लिए निकले थे, उसमें कुछ सहायता नहीं देंगे।

चेष्टा करने पर भी रूस से कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सका। इटली के दूतावास ने भी जल्दी में कोई सहायता नहीं दी। इस प्रकार कई सप्ताह निकल गए। यह

खबर तो सुभाष बाबू को मिली कि उनके भागने की खबर रोम और बर्लिन में पहुंच चुकी है, फिर भी उधर से कोई प्रस्ताव नहीं आया।

इधर सुभाष बाबू के कहने पर उत्तमचन्द इस बात की चेष्टा करने लगे कि चोरी से सुभाष बाबू रूस चले जाएं। जब इस बात की तैयारी होने लगी तो उत्तमचन्द को स्मरण आया कि एक ऐसा व्यक्ति है, जो इस काम में सहायता दे सकता है। उस व्यक्ति से किसी तरह भेंट की गई और उससे परामर्श किया गया, तो वह बोला कि यह काम तो कुछ भी कठिन नहीं है। वह इस काम में मदद देने के लिए तैयार हो गया।

—पूछा गया कि वह व्यक्ति इस काम में सहायता देने का क्या लेगा तो सात सौ अफगानी रुपयों पर यह तय हो गया।

भीतर-भीतर इटालियन दूतावास से बातचीत चलती रही। परन्तु उसमें अधिक प्रगति इस कारण नहीं हो रही थी कि काबुल में उनका जो दूतावास था, उसे अधिकार नहीं था कि वह ऐसे महत्वपूर्ण विषय में कोई निर्णय अपने आप करे। इस कारण जो भी बात मालूम होती थी, उसे वे रोम और बर्लिन में लिख भेजते थे। उन दिनों रोम और बर्लिन प्रत्येक विषय में एक-दूसरे से मिल कर काम करते थे। बात यह है कि उन दोनों देशों की यानी इटली और जर्मनी की सेनाएं एक होकर महायुद्ध में अंग्रेजों के विरुद्ध लड़ रही थीं।

उत्तमचन्द का सहयोग

जब सुभाष बाबू तथा उत्तमचन्द ने यह देखा कि इटली के दूतावास की ओर से कोई निर्णय नहीं हो रहा है, तो स्वाभाविक रूप से वे चोरी से बाहर जाने के कार्यक्रम पर अधिक ध्यान देने लगे। यहां तक कि उस व्यक्ति को रुपयों का कुछ अंश दे भी दिया गया। यह योजना इतनी परिपक्व हो गई कि अब काबुल से चल देने की बात आई और उस व्यक्ति ने कहा कि यदि जल्दी चलना है तो अफगानिस्तान की पश्चिमोत्तर सीमा की ओर जाने वाली लारी में स्थान सुरक्षित करा लिया जाए।

इतने में इटालियन दूतावास की ओर से यह समाचार आया कि इटली से कुछ व्यक्ति सुभाष बाबू को लेने के लिए आ रहे हैं, परन्तु साथ ही यह बताया गया कि उनके आने में छः सात दिन लगेंगे। ऐसे समय में उत्तमचन्द ने बुद्धि से काम लिया और चोरी से अफगानिस्तान से बाहर ले जाने में सहायता करने वाले व्यक्ति को यह कह कर प्रतीक्षा करने के लिए कहा कि जो व्यक्ति बाहर जाने वाला है, वह एकाएक बीमार पड़ गया है, अब अच्छा हो जाने पर ही यह कार्यक्रम चालू किया जा सकेगा। उस व्यक्ति को यह नहीं बताया गया कि बाहर जाने वाला व्यक्ति और कोई नहीं श्री सुभाषचन्द्र बोस हैं। उसे इतना भेद बताने की कोई आवश्यकता नहीं थी। सम्भव

है कि उसे बता दिया जाता तो वह रुपये मांगता, क्योंकि उसका पेशा ही चोरी से माल ले जाना था और जो कुछ भी वह कमाता था, उसे जुए में फूंक कर बैठ जाता था ।

सौभाग्य से इटालियन दूतावास की ओर से जो सन्देश दिया गया था, वह सही प्रमाणित हुआ । एक दिन वह आया, जब दूतावास की ओर से यह सन्देश मिला कि सुभाष बाबू का फोटो उतरवाया जाए, जिससे कि उनका पासपोर्ट बन सके ।

जर्मनी में प्रवेश

सन्देश पाकर सुभाष बाबू ने अपना फोटो उतरवाया और मिस्टर करोटना के नाम से उनका पासपोर्ट बनाया गया । उनका सारा सामान सूटकेस में बन्द कर दूतावास के हवाले कर दिया गया । 17 मार्च को सुभाष बाबू अन्तिम बार उत्तमचन्द से मिले ।

18 मार्च को 9 बजे सवेरे सुभाष बाबू दो जर्मन और एक इटालियन के साथ रवाना हुए । दोनों जर्मन इस कारण भेजे गये थे कि हिटलर यह चाहता था कि सुभाष बाबू बीच में फंस कर इटली में न रह जाएं । हिटलर चाहता था कि वह आकर जर्मनी में रहें और वहीं से अंग्रेजों के विरुद्ध प्रचार कार्य करें ।

सुभाष बाबू 28 मार्च को सकुशल बर्लिन पहुंच गए । उनकी यात्रा बहुत ही अच्छी रही, क्योंकि इसमें उनको कोई शारीरिक कष्ट झेलना नहीं पड़ा । इसके विपरीत यदि वह चोरी से उस व्यक्ति की सहायता से रूस या जर्मनी चले जाते, तो वह रास्ते में बहुत

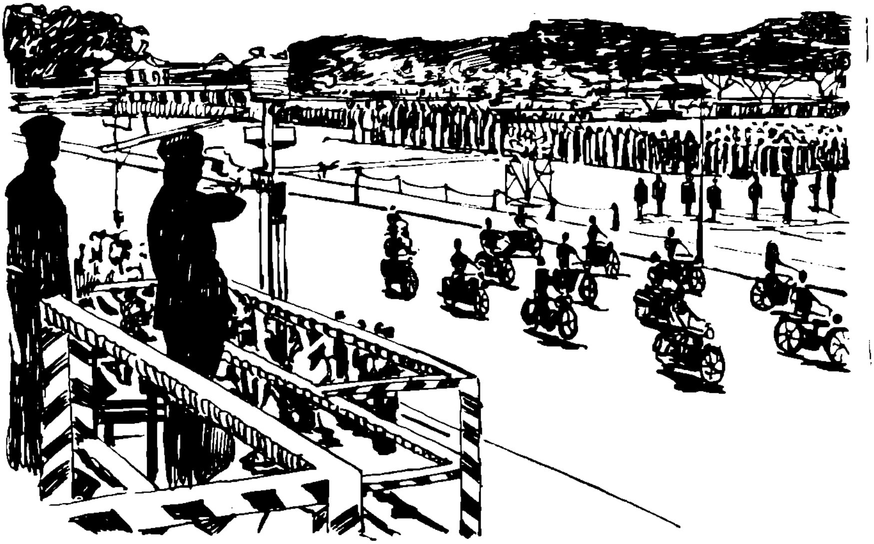

1943 में जर्मनी में सलामी लेते हुए

से कष्टों का सामना करते और पता नहीं वह कितने दिनों में अपनी मंजिल पर पहुंच पाते ।

रासबिहारी बोस का सन्देश

बर्लिन पहुंचते ही उन्होंने वहां एक सैनिक जत्था बनाया, परन्तु देश से इतनी दूर रह कर वह कर ही क्या सकते थे । उन्हें यह समाचार मिला कि सिंगापुर में पकड़े हुए भारतीय सैनिकों को लेकर एक सेना बनाई जा रही है । इसके नेता सुप्रसिद्ध भारतीय क्रांतिकारी श्री रासबिहारी बोस थे, जो प्रथम महायुद्ध के जमाने में भारत और भारत के बाहर क्रांति का प्रयास कर चुके थे । वह एक जापानी नागरिक थे और उनका एक जापानी महिला से विवाह हो चुका था । वह जापानी में भारत पर कई पुस्तकें भी लिख चुके थे ।

रासबिहारी को भी समाचार मिला कि सुभाष बाबू बर्लिन में हैं । उन्होंने सुभाष बाबू को यह सन्देश भेजा कि आप यहां आकर हम लोगों का नेतृत्व करें । सुभाष बाबू तो यह चाहते ही थे । वह समझ गए कि अब उन्हें सक्रिय कार्य में कूद पड़ना चाहिए ।

परन्तु उन दिनों घनघोर युद्ध चल रहा था । बर्लिन से सिंगापुर आना बहुत कठिन एक सीमा तक असम्भव कार्य था । यों तो बराबर हजारों सैनिक इधर से उधर आ रहे थे, परन्तु सुभाष बाबू का जीवन इतना बहुमूल्य था कि जर्मन सेनानायक उनको इस खतरनाक यात्रा में झोंकना नहीं चाहते थे । विशेषज्ञों ने कहा कि किसी भी तरह उन्हें बिना विपत्ति के सिंगापुर पहुंचाया नहीं जा सकता । न जाने कब शत्रु पक्ष को समाचार मिल जाए या वह यों ही अटकल से आक्रमण कर दे, तो सर्वनाश हो जाएगा ।

पनडुब्बी से सिंगापुर

सुभाष बाबू ने जब यह बात देखी कि यहां बैठे-बैठे मूल्यवान समय नष्ट हो रहा है और उधर घटनाएं द्रुत गति से घट रही हैं, तो उन्होंने फिर एक बार बहुत महत्वपूर्ण निर्णय किया । उन्होंने कहा कि मैं बर्लिन में बैठने के लिए तो नहीं आया । यदि बैठना ही होता, तो ब्रिटिश सरकार की जेलें सबसे अच्छी जगह थीं, क्योंकि वहां तो विपत्ति का कोई भय नहीं था । इसलिए उन्होंने कहा कि जैसे भी हो मुझे सिंगापुर पहुंचना है । यदि पहुंचने की चेष्टा में मैं मार्ग में ही शहीद हो जाऊं, तो हो जाऊं, परन्तु मैं अब बैठ नहीं सकता ।

जब हिटलर ने उनका निश्चय देखा, तो उसने उन्हें सिंगापुर भेजने की व्यवस्था कर दी । एक पनडुब्बी तैयार की गई और सुभाष बाबू उसमें सवार होकर हजारों मील

समुद्र पार करने के लिए तैयार हो गए। रास्ते में पड़ने वाले समुद्र पर ब्रिटिश जलसेना का पहरा था। स्थान-स्थान पर तैरने वाली भयानक विस्फोटक सुरंगें लगी हुई थीं, जिनसे स्पर्श होते ही पनडुब्बी के उड़ जाने की सम्भावना थी।

परन्तु सारी विपत्तियों को पार करती हुई पनडुब्बी टोकियो पहुंच गई और सुभाष बाबू के वहां पहुंचते ही सारे पूर्वी एशिया के भारतीयों में एक सनसनी फैल गई। यों तो श्री रासबिहारी बहुत पुराने क्रांतिकारी थे, परन्तु सुभाष बाबू की ख्याति के कारण, उनमें प्रवासी भारतीयों को जितना विश्वास हो सकता था, उतना और किसी में नहीं हो सकता था।

जापानी अधिकारियों से मतभेद

सुभाष बाबू ने बन्दी बना कर लाए गए भारतीय सैनिकों तथा प्रवासी भारतीयों की एक सुसंगठित सेना बनाई। सुभाष बाबू की आज्ञा पर प्रवासी भारतीयों ने अपनी थैलियों के मुंह खोल दिए। लाखों रुपये चन्दे में आने लगे। कई बार ऐसा हुआ कि उनकी जोशीली बात सुन कर वहां के भारतीयों ने उनको अपना सर्वस्व दे दिया।

जापानी सरकार सहायता तो दे रही थी, परन्तु सुभाष बाबू ने जापान की सब बातों को आंख बन्द करके मान नहीं लिया। कई बार जापानी अधिकारियों और सुभाष

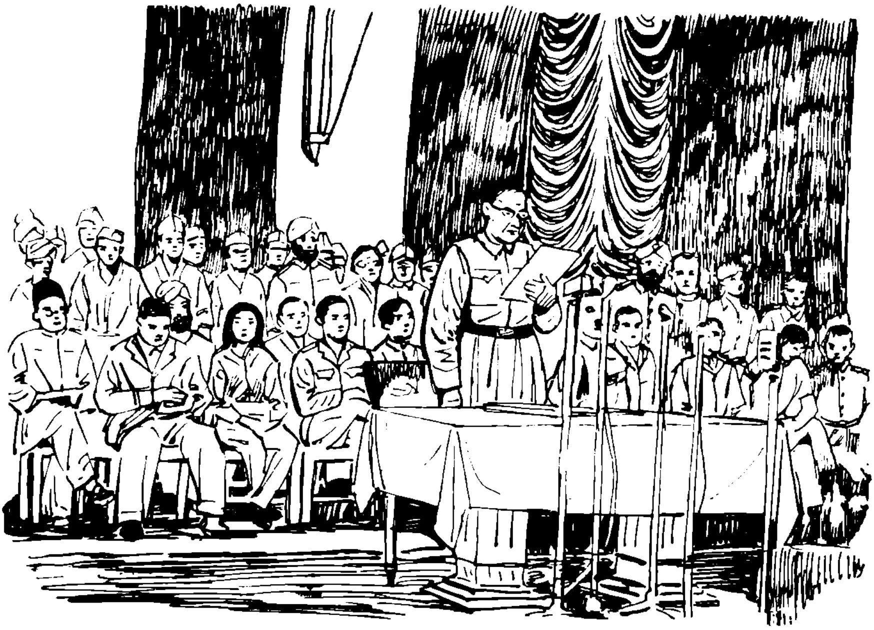

भारतीय बन्दी सैनिकों के समक्ष भाषण करते हुए

बाबू के बीच गहरे मतभेद हो गए, परन्तु सुभाष बाबू अपने ही मत पर डटे रहे। वह इतना कष्ट उठा कर किसी सरकार के एजेन्ट या कठपुतले बनने नहीं गए थे। वह तो यह समझ कर आए थे कि अंग्रेजों के दुश्मन होने के नाते जापानी भारतीयों को स्वतन्त्र होने में सहायता देंगे। इसलिए जहां भी उन्हें ज्ञात हुआ कि इसके विपरीत आचरण हो रहा है, उन्होंने इसका विरोध किया। यदि और कोई व्यक्ति जापानियों से इस प्रकार मतभेद व्यक्त करता, तो जापानी उसकी एक नहीं मानते। फिर यह तो युद्ध का समय था, इस समय तर्क और मतभेद को प्रोत्साहन नहीं दिया जाता। इस समय तो लोगों से यह आशा की जाती थी कि वे बिना कुछ कहे-सुने आज्ञा पालन करेंगे।

परन्तु सुभाष बाबू का व्यक्तित्व इतना महान था कि जब भी उनसे जापानी अधिकारियों का मतभेद हुआ, तभी उनकी बात मानी गई और जापानी अधिकारियों को सिर झुकाना पड़ा।

आज़ाद हिन्द सरकार की स्थापना

सुभाष बाबू के यूरोप भाग जाने के साथ उनके जीवन का एक बिल्कुल ही दूसरा अध्याय शुरू होता है। दूसरे महायुद्ध में जापान के कूद पड़ने के बाद नक्शा बहुत बदल गया था।

थोड़े में आजाद हिन्द फौज का इतिहास इस प्रकार है। आरम्भ में जापान का एक के बाद एक देश पर कब्जा होता चला गया था। ब्रिटिश सेना के बहुत से भारतीय सैनिक तथा उच्च अफसर जापानियों के हाथ में पड़ गए थे। इन लोगों को लेकर आजाद हिन्द फौज बनाने की एक योजना बनी।

1942 के जून में पूर्वी एशिया के सारे भारतीयों का एक सम्मेलन प्रसिद्ध क्रांतिकारी श्री रासबिहारी बोस की अध्यक्षता में हुआ था। उसमें कप्तान मोहनसिंह के नेतृत्व में भारतीय राष्ट्रीय सेना या आई० एन० ए० का संगठन हुआ। जो भारतीय सैनिक कैद में थे उनसे पूछा गया कि आप में से कितने लोग इसमें शरीक होना चाहते हैं। लगभग 35,000 अफसरों और सैनिकों ने इस सेना में शामिल होना स्वीकार कर लिया। पर केवल 16 हजार लोगों को लेकर यह सेना बनी।

1942 की 1 सितम्बर को जनरल मोहनसिंह के नेतृत्व में सिंगापुर में इस सेना का बाकायदा उद्घाटन हुआ। पर वहां बसे हुए भारतीयों में इस सेना के प्रति इतना विश्वास उत्पन्न नहीं हुआ। श्री रासबिहारी बोस और जनरल मोहनसिंह में भी पूरी तरह मतैक्य नहीं रहा और जब तब उनमें मतभेद हो जाता था।

यों तो रासबिहारी बोस एक पुराने क्रांतिकारी थे, पर वह बहुत वर्षों से जापान में बसे हुए थे और जापानी नागरिक बन गए थे। इसमें सन्देह नहीं कि वह जिस समय उत्तर भारत में क्रांतिकारी आंदोलन चला रहे थे, उस समय से लेकर अन्त तक भारत की आजादी के लिए वह उतना ही जोश रखते थे।

पर आजादी के इस प्रेम के साथ उनका जापान प्रेम भी जुड़ गया और वह यह समझते थे कि जापान भारत को स्वतन्त्र कराना चाहता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि जापान का इस्तेमाल ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध किया जा सकता था। पर जापानियों पर कहां तक पूरा भरोसा किया जा सकता था, इस सम्बन्ध में लोगों को सन्देह था। इसके

अतिरिक्त मोहनसिंह और रासबिहारी में न बनने के कारण भी वहां की भारतीय जनता में पूरा भरोसा उत्पन्न नहीं हो सका। नतीजा यह हुआ कि थोड़े दिनों बाद भारतीय राष्ट्रीय सेना या आई. एन. ए. को खत्म कर देना पड़ा था। बात यह है कि जापानियों ने श्री रासबिहारी बोस से मतभेद के कारण श्री मोहनसिंह को हटा कर कहीं कैदी बना दिया था। इसके अलावा और भी बातें हुई थीं जिससे भारतीय राष्ट्रीय सेना सफल नहीं हो सकी। इसीलिए प्रथम भारतीय राष्ट्रीय सेना तोड़ दी गई।

दूसरी बार भारतीय राष्ट्रीय सेना का संगठन 1943 की फरवरी में शुरू किया गया। अब की बार जनरल भोंसले सैनिक दफ्तर के निदेशक और मेजर जनरल एम. जेड. कियानी सेनाध्यक्ष बनाए गए। इतने में ही यह खबर लगी कि नेताजी सुभाष बोस भाग कर टोकियो पहुंच गए हैं। टोकियो से उनका भाषण रेडियो पर प्रसारित किया गया था। जब भारतीय राष्ट्रीय सेना के लोगों ने यह सुना कि अब वह सिंगापुर आ रहे हैं और भारतीय राष्ट्रीय सेना का चार्ज लेने जा रहे हैं, तो बड़ा जोश फैला।

सुभाष 2 जुलाई, 1943 को सिंगापुर के हवाई अड्डे पर पहुंचे। वहां भारतीय नागरिकों तथा भारतीय राष्ट्रीय सेना के वरिष्ठ अफसरों ने उन्हें माला पहनाई और उनका स्वागत किया। उनको बाकायदा सैनिक सलामी (गार्ड आफ आनर) दिया गया और दो दिन बाद सारे पूर्वी एशिया के भारतीयों की एक सभा हुई।

सुभाष बाबू ने श्री रासबिहारी बोस से भारतीय राष्ट्रीय सेना की अध्यक्षता का चार्ज ले लिया। उस समय श्री रासबिहारी बोस ने नेताजी का परिचय लोगों से कराते हुए यह कहा—हम जापान से आप लोगों के लिए एक सौगात लाए हैं। यह कह कर उन्होंने नेताजी की तरफ इशारा किया। श्री रासबिहारी बोस की इसलिए प्रशंसा करनी पड़ेगी कि राजनैतिक कार्य में नेताजी से बहुत वरिष्ठ होने पर भी उन्होंने देश का स्वार्थ तथा लोगों की मांग को देखते हुए अपने को नेतृत्व से हटा कर नेताजी के हाथ में नेतृत्व दे दिया। इसी समय से सुभाष नेताजी के नाम से प्रसिद्ध हुए।

उस दिन सुभाष बाबू ने जो भाषण दिया, वह बहुत स्मरणीय रहा। उन्होंने उसी समय यह कहा कि हम शायद जल्दी ही स्वतन्त्र भारत की एक अस्थायी सरकार कायम करें।

'जयहिन्द' और 'दिल्ली चलो'

8 जुलाई को उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय सेना की सलामी ली और इस दिन उन्होंने इसका नया नामकरण "आजाद हिन्द फौज" के रूप में किया। उन्होंने उसी दिन 'दिल्ली चलो' का नारा दिया और यह कहा कि हम लोगों का उद्देश्य दिल्ली के लालकिले पर तिरंगा झण्डा लगाना है। उन्होंने यह साफ कर दिया कि यह कोई आसान कार्य नहीं है

और हमारा मार्ग कांटों से भरा है। खून, पसीना और आंसू से ही हम उस रास्ते में आगे बढ़ सकते हैं। जय हिन्द का नारा भी पहले-पहल इसी समय दिया गया। बाद को भारत ने इसे ग्रहण कर लिया। उस समय के भारत में दो नारे सबसे अधिक प्रचलित थे, एक तो सरदार भगतसिंह का दिया हुआ "इनक्लाब जिन्दाबाद" और दूसरा नेताजी सुभाष का "जय हिन्द"। हर पन्द्रह अगस्त को भारत के प्रधान मन्त्री लालकिले की दीवार पर से 'जय हिन्द' का नारा देते रहते हैं।

नेताजी सुभाष बोस के आने से आजाद हिन्द फौज का रूपरंग बिल्कुल बदल गया। लोगों में बहुत जोश फैला और कई लोगों ने बड़ी-बड़ी रकमें दान में दीं। हबीबुर्रहमान नाम के एक मुसलमान व्यापारी ने लगभग 1 करोड़ रुपये की सम्पत्ति नकद और हीरे आदि दे दिए और स्वयं बिल्कुल भिखारी हो गया। उन्हें इसके लिए "सेवक हिन्द" की उपाधि दी गई। इसी तरह एक गुजराती महिला श्रीमती बेटाई ने 30 लाख रुपये दिए। इसी तरह कई बड़े सेठों ने धन दान दिया। दान का यह सिलसिला बराबर चलता रहा।

आज़ाद हिन्द सरकार की स्थापना की घोषणा करते हुए

1943 के 21 अक्तूबर को नेताजी के नेतृत्व में आजाद हिन्द की अस्थायी सरकार की स्थापना हुई और स्थापना होते ही उस सरकार का पहला कार्य ब्रिटेन और अमरीका के विरुद्ध युद्ध घोषणा करना हुआ। बहुत से लोगों को नहीं मालूम है कि ९ देशों ने फौरन इस सरकार को स्वीकार किया और यदि दूसरे महायुद्ध में अमरीका और अंग्रेजों की जीत न होकर दूसरे पक्ष की जीत होती तो सर्वप्रथम यह आजाद हिन्द सरकार ही भारत में सरकार बनाने के लिए बुलाई जाती।

1944 की फरवरी में अराकान क्षेत्र में आजाद हिन्द फौज ने लड़ाई की। वहां कर्नल मिश्र और कर्नल रतूड़ी के नेतृत्व में काम हुआ और यद्यपि आजाद हिन्द फौज पूरी

तरह सैनिक सामग्री से लैस नहीं थी, फिर भी उसने कई लड़ाइयां जीतीं। कहा जाता है कि केवल एक पल्टन के लोगों ने अबीसीनिया की फौज की एक पूरी कम्पनी को खत्म कर दिया। इस लड़ाई के बाद जापानियों का भरोसा अधिक बढ़ा और वह कुछ अधिक सहायता देने लगे।

फौज आगे बढ़ती ही चली गई और वह बाद को कई जगह भारत की सीमाओं में घुस गई, जहां तिरंगा गाड़ कर आजादी घोषित की गई। पर इसके बाद जापान की हार शुरू हुई और साथ ही साथ वर्षा के रूप में प्रकृति ने ऐसा रुद्र रूप ग्रहण किया कि अन्त में आजाद हिन्द फौज को पीछे हटना पड़ा। फौज के लोग पीछे हटना नहीं चाहते थे और वे रो रहे थे। पर उन्हें लौटना पड़ा।

अन्त तक लड़ने का इरादा

यहां आजाद हिन्द का पूरा इतिहास देने की आवश्यकता नहीं है। थोड़े में यह कि जर्मनी भी हारने लगा और जापान भी हारने लगा और आजाद हिन्द फौज का भाग्य उनके साथ बंधा होने के कारण आजाद हिन्द फौज को भी पीछे हटना पड़ा।

आजाद हिन्द फौज में रानी झांसी के नाम से स्त्रियों की एक टुकड़ी भी थी। इन स्त्रियों में बहुत जोश रहा। नेताजी अपनी फौज के साथ सब तरह की कठिनाइयां सहते रहे और वह लौटती हुई फौज के साथ पैदल मौलमीन पहुंचे और वहां से वह रेल से बैंकाक पहुंच गए।

रानी झांसी रेजीमेंट का निरीक्षण करते हुए

जापान ने 1945 की 15 अगस्त को अणुबम की मार खाने के बाद आत्मसमर्पण कर दिया। इसके कुछ दिन पहले डा. कासलीवाल नेताजी से बात कर रहे थे कि अब तो सब समाप्त हो गया। अब क्या होगा। पर नेताजी आजाद हिन्द फौज की हार से निराश नहीं थे। वह बोले—समाप्त कुछ नहीं हुआ। इसमें सन्देह नहीं कि हमारे लोग गिरफ्तार हो जाएंगे, पर देश में ऐसी प्रवृत्ति और जोश पैदा होगा कि अन्ततोगत्वा आजाद हिन्द फौज के सैनिक छूट जाएंगे और देश स्वतन्त्र हो जाएगा।

उनकी यह भविष्यवाणी सत्य सिद्ध हुई।

आज़ाद हिन्द फौज का मुकदमा

थोड़े में यह भी बता दिया जाए कि जब लालकिले में आज़ाद हिन्द फौज के सैनिकों और सेनापतियों को लाकर बन्दी कर दिया गया और उन पर मुकदमा चलाया गया तो कैसे क्या हुआ ? इस बीच भारत में आज़ाद हिन्द फौज की सारी खबरें पहुंच चुकी थीं और जनता में बड़ा जोश था। यह जोश इतना अधिक बढ़ गया कि गांधीजी और जवाहरलाल नेहरू आदि नेता भी आज़ाद हिन्द फौज के पक्ष में हो गए। नतीजा यह हुआ कि भूलाभाई देसाई को जो कांग्रेस के सबसे बड़े वकील समझे जाते थे, इन अभियुक्तों की पैरवी के लिए तैयार किया गया। भूलाभाई ने बड़ी योग्यता के साथ सारा काम किया। उनकी सहायता के लिए कैलाशनाथ काटजू, जवाहरलाल नेहरू आदि भी थे।

भूलाभाई देसाई ने देखा कि बहुत ज्यादा गवाहियां हैं और बहुत प्रमाण हैं। पर इससे भूलाभाई जरा भी निरुत्साहित नहीं हुए और उन्होंने एक ऐसा नुकता निकाला, जो सभी दृष्टियों से मुकदमे को बहुत ही कमजोर कर देता था। जब जापान ने 1941 के 8 दिसम्बर को लड़ाई छेड़ी, तो पूर्वी एशिया के भारतीयों में बड़ी बेचैनी फैली। जापान विजय पर विजय पाता गया। फरवरी तक सिंगापुर का पतन हो गया और बहुत से भारतीय सैनिक जापानियों के हाथ में कैद हो गए। कर्नल हण्ट नामक एक अंग्रेज इन भारतीय सैनिकों के कमांडर थे। उन्होंने जब देखा कि जापानी जीत चुके हैं, तो उन्होंने भारतीय सैनिकों को जापानियों के हाथ में सौंप दिया। यही नहीं, उन्होंने यह भी कहा कि अब भारतीय सैनिकों को उसी प्रकार से जापानियों का हुक्म मानना चाहिए जैसे कि वह अंग्रेजों का हुक्म मानते थे।

भूलाभाई देसाई ने यह नुक्ता पकड़ लिया और अदालत के सामने यह तर्क रखा कि जब कर्नल हण्ट ने इस प्रकार से भारतीय सैनिकों को जापानियों के हाथ में सौंप दिया और यह कह दिया कि तुम लोगों को जापानियों का आदेश मानना चाहिए, तो उससे भारतीय सैनिक ब्रिटिश सरकार के प्रति दिए गए अपने वादे से मुक्त हो गए। यही नहीं कर्नल हण्ट के इस समर्पण का अर्थ यह भी था कि सैनिकों पर से सब तरह का संरक्षण वापस ले लिया गया। ऐसी हालत में यदि भारतीय सैनिकों ने जापानी सेना की तरफ काम किया, तो अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से उन्होंने कोई गलत काम नहीं किया।

भूलाभाई देसाई ने देशभक्ति की बात बिल्कुल नहीं उठाई और यह नहीं कहा कि किसी भी भारतीय को चाहे वह किसी भी परिस्थिति में हो, यह अधिकार है कि वह अपने देश को स्वतन्त्र कराने के लिए चाहे जैसा प्रयास करे। बात यह है कि अंग्रेज़ों की अदालत में इस तर्क का कोई अर्थ नहीं था, यद्यपि अंग्रेज़ स्वयं देशभक्ति को बहुत बड़ा गुण मानते हैं। इस प्रकार से भूलाभाई देसाई ने केवल कानूनी नुक्ता ही उठाया। उन्होंने यह कहा कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार आज़ाद हिन्द सरकार उन सब शर्तों को पूरा करती है, जो एक स्वतन्त्र राष्ट्र पर लागू होती हैं। पहली बात तो यह थी कि करीब 20 लाख भारतीय इस राष्ट्र के अधीन थे और वे सब एक ही विचार और एक ही देश के थे। इसलिए उसकी जो सरकार बनी और उस सरकार के जो विभाग बने, उसके अधीन जो अनुशासित सेना संगठित हुई, वह किसी भी प्रकार गैर-कानूनी नहीं मानी जा सकती है। भूलाभाई देसाई ने यह प्रमाणित करने की चेष्टा की कि किसी भी प्रकार यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि भारतीय सैनिकों ने लोभ में आकर या धमकी में आकर विदेशी सेना का साथ दिया। यदि वे लोभ या धमकी में आकर विदेशी सेना को सहायता देते, तो वे दोषी होते, पर उन पर कोई ऐसी बात साबित नहीं की जा सकती है। उन्होंने पहले केवल कानूनी दृष्टि से ही सारी बातों को अदालत के सामने रखा और कहा कि 15 वर्गमील क्षेत्र आज़ाद हिन्द सरकार के अधीन था। इसलिए आजाद हिन्द सरकार केवल एक हवाई सरकार नहीं थी, बल्कि एक वास्तविक सरकार थी और इन सैनिकों और सेनाध्यक्षों ने उस सरकार के आदेश के अनुसार कार्य किया।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के बहुत से उदाहरण दिए गए जिनमें कि इस तरह के व्यवहार को सही बताया गया है। यह तो मालूम ही था कि न्यायाधीश के रूप में बैठे हुए अंग्रेज इन बातों को नहीं मानेंगे, फिर भी भूलाभाई देसाई ने कानूनी दृष्टि से अपना पक्ष खूब पुष्ट करके पेश किया। इस प्रकार कानूनी रूप से अपने मुकदमे को तैयार करने के बाद भूलाभाई देसाई ने यह कहा कि प्रत्येक भारतीय का यह अधिकार है कि जब वह चाहे तब ब्रिटिश सम्राट के प्रति वफादारी से अलग होकर भारत की स्वतन्त्रता के लिए बनी हुई किसी भी सेना में भर्ती हो जाए। जो देश स्वतन्त्र हैं, वहां तो देश और सरकार के प्रति वफादारी आपस में नहीं टकराती, पर अधीन लोगों के सामने ऐसी बात पैदा हो सकती है। 1776 में अमरीकन उपनिवेशों के लोगों ने ब्रिटिश राजा के प्रति अपनी वफादारी त्याग दी और उन्होंने देश के प्रति वफादारी की, तो क्या इस पर उनके विरुद्ध मुकदमा चलाया जा सकता है ?

इस प्रकार भूलाभाई ने प्रमाणित किया कि आज़ाद हिन्द फौज ने जो कुछ भी किया वह उसी प्रकार देशभक्तिमूलक कार्य था, जैसा कि अमरीका के लोगों ने उस समय किया जब उन्होंने ब्रिटिश सम्राट की वफादारी तोड़ कर अपने देश को स्वतन्त्र घोषित किया।

देश में अपूर्व जोश

इस सारे मुकदमे का उद्देश्य भारत में जनमत को तैयार करना था और संसार के सामने एक मुकदमा प्रस्तुत करना था। कांग्रेस की तरफ से जो वकील गए थे, वह इस बात को जानते थे कि चाहे वह कितने ही तर्क पेश करें, न्यायाधीश नहीं मानेंगे। वह तो सजा करेंगे ही। पर ऐसे मामलों में सजा मुख्य वस्तु नहीं होती, मुख्य वस्तु है जनमत। जनमत को इस प्रकार तैयार किया गया। उसके दो लाभ हुए; एक तो यह लाभ हुआ कि 1942 का आन्दोलन दबा दिए जाने से जनता में जिस प्रकार निराशा फैली थी, वह दूर हो गई और दूसरे जनमत इतना प्रबल हो गया कि अदालत द्वारा सजा दिए जाने के बावजूद थोड़े दिनों के बाद आज़ाद हिन्द फौज के लोगों को रिहा करने के लिए परि-स्थिति उत्पन्न हो गई। इन मुकदमों का एक परोक्ष नतीजा यह हुआ कि ब्रिटिश फौज में जो भारतीय थे, उनमें बहुत जोश फैला। सरकार को गुप्त रूप से यह मालूम हो गया कि यदि भविष्य में कोई ऐसी लड़ाई हुई जिसमें भारत के लोग एक तरफ हुए और सरकार दूसरी तरफ तो भारतीय सेना पर विश्वास नहीं किया जा सकता। कहना न होगा कि इसी के कारण मुख्यत: ब्रिटिश सरकार ने भारत छोड़ कर जाने का विचार किया।

आज़ाद हिन्द फौज के इस अध्याय को समाप्त करने से पहले यह बता देना आवश्यक है कि जिस रूप में आज़ाद हिन्द फौज का संगठन हुआ था, उसमें नेताजी के संगठन सम्बन्धी विचार स्पष्ट हो जाते हैं। पहली बात तो यह थी कि उस फौज में किसी प्रकार का जात-पांत या अन्य भेद भाव नहीं था। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, सब इसमें भाइयों की तरह मिल कर देश के लिए लड़ रहे थे। सब लोग महज भारतीय थे और कुछ नहीं।

अभी तक भारतीय फौज इस उदार राष्ट्रीय आधार पर संगठित नहीं हो पाई। आज़ाद हिन्द फौज का जो पत्र निकला था वह हिन्दुस्तानी में होता था। पर उसकी लिपि रोमन थी। सुभाष बाबू का यह विचार था कि रोमन लिपि से भारत की एकता बनी रह सकती है।

यह कोई नया विचार नहीं था। उन्होंने हरिपुरा में 1938 की फरवरी में कांग्रेस

के अध्यक्ष के रूप में भाषण देते हुए यह कहा था कि मैं हिन्दी और उर्दू में भेद को बनावटी मानता हूं। दोनों की मिलावट से ही राष्ट्रभाषा बन सकती है, जैसे कि हम देश के बहुत बड़े भाग में रोज बोलते हैं। यह नागरी में भी लिखी जा सकती है और उर्दू में भी। मैं डरते-डरते फिर भी यह अपील करता हूं कि रोमन लिपि अपनाने से मुसलमान, हिन्दू सभी इसे अपना सकेंगे। यही नहीं दूसरे देशों के साथ भी हमारा सीधा सम्बन्ध हो सकेगा। जब मैं 1934 में तुर्की गया था, तब मैं इस विचार का हो गया था कि किसी विदेशी लिपि को ग्रहण करना राष्ट्रीयता के विरुद्ध नहीं है।

मेजर जनरल शाहनवाज़ खां की जबानी

नेताजी के साथ काम करने वाले मेजर जनरल शाहनवाज़ खां ने उनके दैनिक जीवन के सम्बन्ध में बहुत रोचक बातें लिखी हैं, जिनमें से कुछ यहां उद्धृत की जाती हैं। नेताजी बहुत सवेरे ही काम पर जुट जाते थे और लगभग दो बजे दिन तक काम करते थे। वह अक्सर अपनी सेना के अफसरों को बुलाया करते थे और शाम के समय उनके साथ बैडमिंटन खेला करते थे। इसके बाद वह उन्हें अपने कमरे में ले जाते थे और वहां उन्हें अपने कपड़े पहनने के लिए देते थे और फिर वह अफसर वहां स्नान आदि करते थे।

झांसी की रानी रेजीमेंट की स्त्रियों के साथ उनका व्यवहार बिल्कुल पिता की तरह था। एक बार ऐसा हुआ कि उस रेजीमेंट की एक स्त्री का पति लड़ाई में मर गया। इस पर उस युवती ने जहर खा लिया। सौभाग्य से तुरन्त ही लोगों को पता लग गया कि उसने जहर खा लिया है। इसलिए उसका उपचार हो गया। नेताजी ने दो ज्यादा उम्र वाली स्त्रियों को उस पर तैनात कर दिया और वह स्वयं भी उससे जब तब बातें किया करते थे जैसे पिता अपनी पुत्री के साथ करता है।

नेताजी अपने सैनिकों से बहुत प्यार करते थे। वह अक्सर उनके सार्वजनिक रसोईघर में जाते थे और उनके साथ खाना खाते थे। इसके अलावा वह हमेशा अस्पतालों में जाते थे और अस्पतालों में पड़े हुए घायल सिपाहियों के प्रति विशेष ध्यान देते थे। इन सारी बातों से सैनिक उन्हें बहुत प्यार करते थे और सैनिकों ने ही उन्हें प्रेम से नेताजी का नाम दिया था।

वह प्रति दिन रेडियो पर भारत की खबरें सुना करते थे। जब उन्होंने सुना कि बंगाल में बड़ा भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा है और सैकड़ों लोग मर रहे हैं, तो वह बहुत चिन्तित रहते थे। वह यह समझ नहीं पाते थे कि कैसे इन लोगों की मदद की जाए। अन्त में उन्होंने श्याम और बर्मा की सरकार से बातचीत कर एक लाख टन चावल खरीदने की

व्यवस्था की। उन्होंने इसकी भी तैयारी कर ली कि यह चावल किस तरह और किस जहाज के द्वारा भारत भेजा जाएगा। पर वह यह चाहते थे कि अंग्रेज कम से कम यह वादा करें कि जो लोग चावल लेकर जाएंगे, उन्हें गिरफ्तार न किया जाए और जहाज पर भी किसी प्रकार का हमला नहीं होगा। पर अंग्रेजों ने इसका कोई उत्तर नहीं दिया। बार-बार नेताजी की तरफ से यह प्रस्ताव रखा गया पर अंग्रेजों की तरफ से कोई उत्तर नहीं आया। इस बात से नेताजी बहुत दुखी रहे।

इसी प्रकार नेताजी कलकत्ता पर बमबारी रोकते रहे। एक बार जापानी सेना के एक बड़े अधिकारी उनके पास आए और उन्होंने उनसे कहा कि हम कलकत्ता पर बम फेंकना चाहते हैं, इस सम्बन्ध में आपकी क्या राय है, तो नेताजी ने इस पर उत्तर दिया कि मैं यह नहीं चाहता कि कलकत्ता पर इस तरह से बमबारी की जाए और यह सुन्दर नगरी तहस-नहस हो जाए। उन्होंने कहा—मैं यह चाहता हूं कि अपने लोगों में आशा और उत्साह फैलाऊं न कि उन पर निराशा और कष्ट डालूं।

उनके परामर्श पर जापानियों ने कलकत्ता पर बम फेंकने का प्रस्ताव छोड़ दिया। उन्होंने यह कहा कि जब हम इम्फाल पर कब्जा कर लेंगे, तब हम कलकत्ता पर अपने हवाई जहाज भेजेंगे। पर उन हवाई जहाजों से बम नहीं गिराएंगे, बल्कि तिरंगे बरसाए जाएंगे। इससे अंग्रेजों की साख खत्म हो जाएगी और झंडों के द्वारा बमों से कहीं ज्यादा काम होगा।

आज़ाद हिन्द फौज में किसी प्रकार कोई साम्प्रदायिक या प्रान्तीय झगड़ा नहीं था। सब लोग एक तरह के विचार रखते थे, एक-सा खाना खाते थे, और एक ही उद्देश्य के लिए प्राणों की आहुति देने के लिए तैयार थे।

बाद में आज़ाद हिन्द फौज के लोग गिरफ्तार होकर किस प्रकार भारत में आए, उनके मुकदमों से किस प्रकार जनता में जोश उमड़ा और नेतागण सब तरह से आज़ाद हिन्द फौज के इन वीर सैनिकों को सहायता पहुंचाने के लिए तैयार हुए और यद्यपि दिखाने के लिए उन्हें सजाएं दी गईं, पर किस प्रकार थोड़े ही दिनों के अन्दर भारत स्वतन्त्र होते ही वे छूट गए यह सब यहां ब्यौरे में बताने की आवश्यकता नहीं है।

हम यहां उस गीत को उद्धृत करते हैं जो आज़ाद हिन्द फौज का विशेष गीत था और जिसे उन दिनों भारत में गाया जाता था। इसके अलावा झण्डा गीत भी गाया जाता था—

कदम कदम बढ़ाए जा,
खुशी के गीत गाए जा,
यह जिन्दगी है कौम की,
तू कौम पै लुटाए जा।

तू शेरेहिन्द आगे बढ़,
मरने से तू फिर भी न डर,
आसमान तक उठा के सर,
जोशे वतन बढ़ाए जा।

तेरी हिम्मत बढ़ती रहे,	चलो दिल्ली पुकार के,
खुदा तेरी सुनता रहे,	कौमी निशां सम्हाल के,
जो सामने तेरे अड़े,	लाल किले पै गाड़ के,
तू खाक में मिलाए जा।	लहराए जा, लहराए जा।

जयहिन्द !

विवाह

सुभाष के सम्बन्ध में बाद को पता चला कि जिन दिनों वह जर्मनी में थे उन दिनों उन्होंने एक जर्मन महिला से शादी की और 'अनीता' नाम से उनकी एक बेटी भी थी। पर जैसा कि पहले के सारे वर्णनों से प्रमाणित है उन्होंने अपने प्रेम सम्बन्ध को कोई महत्व नहीं दिया और देश के प्रति कर्तव्य को ही सबसे आगे रखा।

मृत्यु

अन्त में सुभाष बोस की शहादत पर दो शब्द। जैसा कि भारत सरकार ने कई बार पता लगाया, इसमें कोई सन्देह नहीं कि सुभाष बोस की हवाई दुर्घटना में मृत्यु हो चुकी है। भारत सरकार की ओर से श्री नेहरू के प्रधान मन्त्री रहते समय एक समिति जापान में जांच के लिए गई थी। उसने सारी प्राप्त गवाहियों के आधार पर यह निश्चित निष्कर्ष निकाला कि जहाज गिरने से हवाई दुर्घटना में श्री सुभाष की मृत्यु हुई। संसद को भी यह रिपोर्ट दे दी गई। फिर भी कुछ लोग जो यह मानते हैं कि वे मरे नहीं, वे जिन्दा हैं और किसी दिन प्रकट होंगे। यह उनके प्रति प्रेम का एक तरीका ही माना जा सकता है, इसके अलावा कुछ नहीं। जन-मन कई बार अजीब तरीके से काम करता है। वह कई मौकों पर यह विश्वास करने से इन्कार करता है कि उसका वीर मारा गया या मर गया। कृष्ण या राम मर गए, पर अश्वत्थामा, हनुमान और कुछ ऐसे वीर हैं जो नहीं मरे। इस प्रकार यह परिपाटी बहुत पुरानी है, सम्मान देने की। इस प्रकार के विश्वास में जन-मन की एक कमजोरी भी छिपी हुई है। वह यह कि एक वीर छिपा बैठा है और वह मौके पर आकर हमारा उद्धार करेगा। यह कमजोरी है जिसकी जितनी निन्दा की जाए, थोड़ी है। जनता अपना उद्धार आप ही कर सकती है। चाहे कोई भी नेता हो, वह केवल समय की मांग की पूर्ति करता है और अपना कार्य कर चला जाता है।

अन्त में हम सुभाष बाबू पर गांधीजी के इन शब्दों से इस पुस्तक की समाप्ति करते हैं :

"नेताजी का सबसे महान और स्थिर रहने वाला कार्य था सब प्रकार के जातीय और वर्ग भेद का उन्मूलन। वह केवल बंगाली ही नहीं थे। उन्होंने अपने आपको कभी सवर्ण हिन्दू नहीं समझा। वह आमूलचूल भारतीय थे। इससे अधिक क्या कि उन्होंने अपने अनुगामियों में भी यही आग प्रज्वलित की, जिससे प्रेरित होकर वे उनकी उपस्थिति में सभी भेदभाव भूल गए थे और एकसूत्र होकर काम करते थे।"

प्रकाशन विभाग
सूचना और प्रसारण मंत्रालय
भारत सरकार